CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वैदिकधर्म

मई १९६६

५० पैसे

सम्मानका प्रत्युत्तर देते हुए

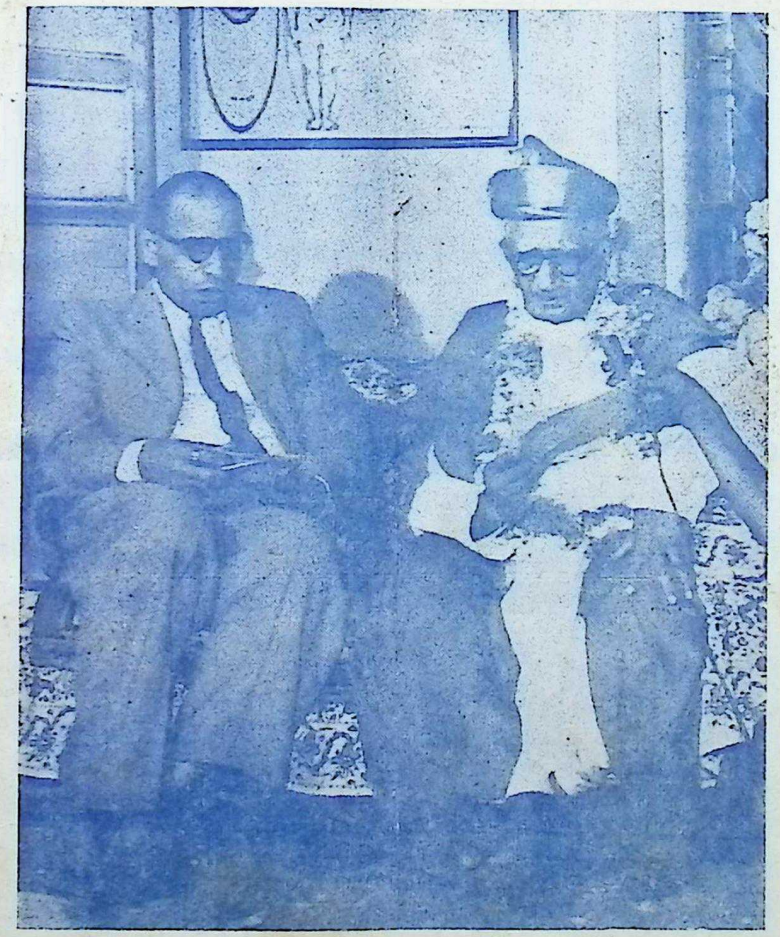

श्री पं. सातवलेकर (दायें) साथमें डॉ. टी. जी. माईणकर
(प्रतिनिधि पूना विश्वविद्यालय)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वैदिक धर्म

वर्ष ४७ : अंक ५ : वैशाख २०२३

प्रधानसंपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

संपादक
श्री श्रुतिशील शर्मा, एम्. ए., शास्त्री, तर्कशिरोमणि

वि ष या नु क्र म णि का

१	मायावीका प्रतिकार	[वैदिक प्रार्थना]	८३
२	पदवीदान-समारंभ		८४
३	मैत्री भावनाका महत्त्व	श्री शिवनारायण सक्सेना	८९
४	इस देशके भिन्न-भिन्न नाम	श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार	९१
५	ब्रह्म	श्री शोभनाथ पाठक	९५
६	अमिय-कलश	श्री वेदव्रत शर्मा शास्त्री	९७
७	अग्नि-देवता	पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	३०५ से ३२०
८	ऋग्वेदका सुबोध भाष्य	पं. श्री. दा. सातवलेकर	६५ से ८०

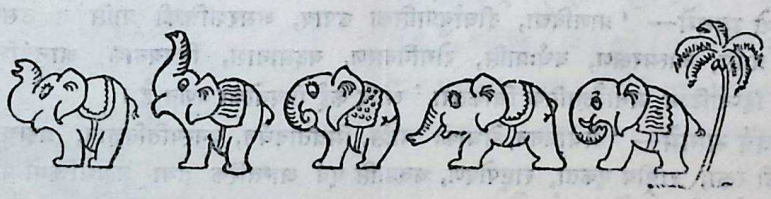

'वैदिक धर्म' वार्षिक मूल्य म. आ. से ५) रु.

वी. पी. से रु. ५.६१, विदेशके लिये रु. ६.५० डाक व्यय अलग रहेगा।

मंत्री— स्वाध्याय-मण्डल, पो.- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मानवजीवनके रहस्योंसे भरपूर

एक संग्रहणीय खजाना

जी हां, मानवशरीरकी रचना विधाताके कौशल्यकी चरम सीमा है। शरीर स्वयंमें एक रहस्यमय विश्व है, जिसके कई रहस्योंका स्फोट आजतक भी नहीं हो पाया है।

मानवशरीरविज्ञानके विज्ञोंने इस शरीरका जितना विश्लेषण आज किया है, उससे कहीं अधिक और यथार्थ विश्लेषण हमारे प्राचीन ऋषिमहर्षियोंने इस शरीरका किया था। उन्होंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीन भागोंमें मानव शरीरके सारे रहस्योंका उद्घाटन किया है। इन सारे रहस्योंको यदि आप जानना चाहते हैं, तो अवश्य पढिए श्री पं. श्री दा. सातवलेकर लिखित अथर्ववेदके सुबोध भाष्यके पांचों भाग। वे पांच इसप्रकार हैं—

(१) ब्रह्मविद्या प्रकरण। (२) मातृभूमि और स्वराज्यशासन। (३) गृहस्थाश्रम
(४) आरोग्य और दीर्घायुष्य। (५) मेधाजनन, संगठन और विजय।

इनमें प्रथम चार भाग विक्रीके लिए तैय्यार हैं, अन्तिम एक भाग अभी प्रेसमें है। उनके भी शीघ्र छपनेकी आशा है।

प्रथमभागमें— 'ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग, पाशवी सामर्थ्यका आत्मिकशक्तिसे प्रतिकार, गुह्य अध्यात्मविद्या, पूजनीय ईश्वर, आत्मशक्ति, ब्रह्माण्ड देह, आत्मज्योति, मुक्तिका मार्ग, मुक्तिका अधिकारी,' आदि कई आध्यात्मिकज्ञानके रहस्योंका संग्रह है।

दूसरे भागमें— 'वैदिकराष्ट्रगीत, राजाका कर्तव्य, राष्ट्रका अभ्युदय, राजाका चुनाव, कर, दुष्टका नाश, शत्रुपर विजय, युद्धनीति, विजयप्राप्ति, स्वशक्तिका विस्तार, युद्धसाधन' आदि कई राज्यशास्त्रविषयक बातोंका वर्णन है।

तीसरे भागमें— 'पवित्र गृहस्थाश्रम, कुलवधू एवं पतिके गुण, वर और कन्याके गुण एवं उनका चुनाव, वैदिकविवाहका स्वरूप, धनार्जन, गोरक्षण, आदर्शपतिपत्नी, वीरपुत्रकी उत्पत्ति, रमणीय घर, भाग्यप्राप्ति' आदि गृहस्थाश्रमके सम्बन्धमें कई अत्यन्त उपयोगी बातोंकी विशद व्याख्या है।

चौथे भागमें— 'प्राणविद्या, दीर्घायुप्राप्तिका उपाय, अमरशक्तिकी प्राप्ति व उसका उपाय कल्याणकी प्राप्ति, आत्मरक्षण, वर्चःप्राप्ति, रोगनिवारण, यक्ष्मानाश, विषयनाश, आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा, हिप्नोटिज्म, मनोवैज्ञानिक चिकित्सा' आदि कई विषयोंका वर्णन है।

पांचवें भागमें— 'मेधाजनन, मेधाकी प्राप्ति, मित्रतावर्धन, वनस्पतिविज्ञान, ब्रह्मचर्य, संगठन, मातृभूमिकी रक्षा, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रपोषण, धनप्राप्ति एवं आन्तरिक तथा ब्रह्मशक्तियों पर विजय' आदि कई उल्लेखनीय बातोंका वर्णन है।

सभी भाग मूलमंत्र, अर्थ, भावार्थ, तथा स्पष्टीकरणसे युक्त डबलक्राऊन ८ पेजी साइजके क्रीमवोव पेपरसे समृद्ध एवं आकर्षक गेटअपसे सम्पन्न हैं। प्रत्येक भागकी कीमत १० रु. (डा. व्य. पृथक्) है। भागोंकी छपाई सीमित संख्यामें ही हुई है। अतः न पानेकी निराशासे बचनेके लिए आज ही अग्रिम धन भेजकर पार्सलसे या वी. पी. से मंगावें। मुफ्त सूचीपत्रके लिए लिखें—

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)' पारडी [जि. बलसाड]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वैदिकधर्म

मायावीका प्रतीकार

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्धत्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीः
अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ (ऋ० १।८०।७)

(अद्रिवः वज्रिन् इन्द्र) हे पहाडोंके किलोंमें रहनेवाले वज्रधारी इन्द्र ! (तुभ्यं वीर्यं अनुत्तं) तेरा पराक्रम अद्वितीय है, क्योंकि (त्वं) तूने (तं मायिनं मृगं) माया करनेवाले मृगरूप धारण करनेवाले शत्रुको (स्वराज्यं अनु अर्चन्) स्वराज्यकी पूजा करते हुए (मायया अवधीः) मायासे ही मारा ॥

वीर सेनापतिका यह कर्तव्य है, कि वह शत्रुओंको जिस प्रकारसे भी हो नष्ट करे। छलसे, कपटसे अर्थात् जिस मार्गसे भी संभव हो, उसी मार्गसे शत्रुओंका नाश करे और इस प्रकार अपने देशकी स्वतंत्रताकी रक्षा करे।

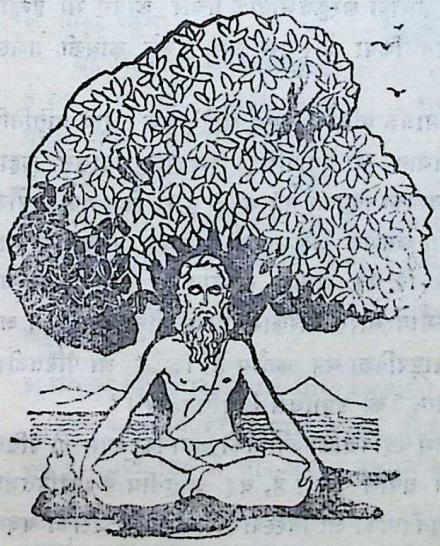

*

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पदवीदान–समारंभ

पारडी ग्रामके पास प्राचीन आश्रमोंकी भव्यताका स्मरण करानेवाला स्वाध्यायमण्डल आश्रम वेदोंपर अनुसंधान करनेवाली संस्थाओंमें अपना विशिष्ट स्थान रखता है। उसके संचालक श्री पं. श्री. दा सातवलेकर भी विश्रुत हैं।

उसी आश्रममें ता. १०–४–६६ को श्री पं. सातवलेकरजीको डी. लिट्. की उपाधि देनेके लिए पूना विश्वविद्यालय की तरफसे एक समारोहका आयोजन किया गया था। पूना विश्वविद्यालयके डीन ऑफ फेकल्टी ऑफ आर्ट्स डॉ. टी. जी. माईणकर और उपप्रस्तोता श्री रं. श्री. सरदेशपाण्डे विश्वविद्यालयके प्रतिनिधिके रूपमें सम्मिलित हुए थे।

सभाका प्रारंभ श्री श्रुतिशील शर्माके वेदमंत्रपठनसे हुआ। इसके बाद संस्थाके मंत्री श्री व. श्री. सातवलेकरने अपने स्वागतभाषणमें संस्थाका परिचय देते हुए कहा– 'इस संस्थाका बीज १९१८ में श्री पंडितजीने औंधमें बोया था। वह आज विकसित होकर वृक्षके रूपमें हो गया और दुःखसंतप्त प्राणीमात्रको अपनी छायाके द्वारा सुख पहुंचा रहा है। इस संस्थाने आजतक अनेक आपत्तियोंका मुकाबला किया। पर अपने सहयोगियोंके आत्मीयतापूर्ण सहायताके कारण इसके संचालकने हर तरहकी आपत्तियोंका दृढतासे मुकाबला किया और उन पर विजय पायी। औंधसे पारडी स्थानान्तरित होनेपर भी यह संस्था दृढमूल ही रही। यह सब हमारे सहयोगियोंके प्रयत्नोंका ही फल है।'

तदनन्तर पूना विश्वविद्यालयके प्रतिनिधि डॉ. माईणकरने पदवी प्रदान करते हुए कहा कि– 'श्री पंडितजीने जो कुछ कार्य किया है, वह अद्वितीय है। उनका ऋषितुल्य जीवन अनुकरणीय है। श्री पंडितजीके जीवनमें देशभक्त, संशोधक और कलाकार इस त्रिवेणीका संगम है। इनका सम्मान वस्तुतः पूना विश्वविद्यालयका ही सम्मान है।'

इतना कहनेके बाद डॉ. माईणकरने श्री पंडितजीको विद्वत्ताके प्रतीक पगडी और चोगा पहनाया। उस समयका समां देखने लायक था। महाराज सय्याजीराव विश्वविद्यालयके प्रतिनिधि डॉ. भोगीलाल साण्डेसरा, गुजरात विद्यापीठके प्रतिनिधि श्री लालभाई नायक; आर्यसमाजके प्रतिनिधि तथा सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाके श्री प्रधान प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास तथा पूना वि. वि. के डेपुटी रजिस्ट्रार श्री रं. श्री. सरदेशपाण्डेने फूलहार अर्पण किए।

बडौदा वि. वि. का प्रतिनिधित्व करते हुए डॉ. भोगीलाल साण्डेसराने कहा– 'श्री पंडितजीने अपना सारा जीवन साधनामें लगाया है। उन्होंने अबतक जो ज्ञान दिया है, उससे लोगोंमें वेदोंके प्रति प्रेम पैदा हुआ। श्री पंडितजी केवल कलागुरु नहीं हैं, वे मंत्रद्रष्टा हैं। इस अवसरपर मैं बडौदा विश्वविद्यालयकी ओरसे उनका अभिनन्दन करता हूँ।'

गुजरात विद्यापीठके प्रतिनिधि श्री लालभाई नायकने कहा– 'श्री पंडितजीका कार्य वैदिक साहित्यमें बहुत उत्तम है। इसके अलावा संस्कृतभाषाके प्रचार कार्यमें भी इन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। हम सब उनके कार्यकी प्रशंसा करते हैं।'

आर्यसमाजके प्रतिनिधि एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाके प्रधान श्री प्रतापसिंह शूरजीवल्लभदासने कहा– 'श्री पंडितजीकी विद्वत्ता एवं उनके द्वारा किए गए कार्योंका वर्णन करना लगभग असंभव ही है। यह प्रसन्नताकी बात है कि पूना वि. वि. उनका सम्मान कर रहा है, पर अब उनका सम्मान भारत सरकार द्वारा होना चाहिए। अब भारतके राष्ट्रपतिका यह कर्तव्य है कि वे श्री पंडितजीको 'भारत–रत्न' की उपाधिसे विभूषित करें।'

'भारतमें वेदविद्याकी ज्योतिको फैलानेका काम जो पंडितजीने इतने वर्षोंसे किया है, वह अद्वितीय है। पंडितजीने अबतक मानवताकी जो निस्स्वार्थ सेवा की है, उसका बदला नहीं चुकाया जा सकता।'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसके बाद श्री द. ए. देशपाण्डेने भी प्रासंगिक भाषण दिया।

तदनन्तर श्री श्रुतिशील शर्माने अपने भाषणमें कहा– 'पूना विश्वविद्यालयने पंडितजीका यह जो गौरव किया है, वह स्वयं उसी विश्वविद्यालयका गौरव है। इस उपाधिको प्रदानकर पूना वि. वि. ने अपनी परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखा है। पर हमें तब और प्रसन्नता होती, जब गुजरात या बडौदा विश्वविद्यालय इस दिशामें अपना सर्वप्रथम कदम बढाता और पंडितजीका गौरव करके दूसरे विश्वविद्यालयोंके सामने एक आदर्श उपस्थित करता। क्योंकि गत अनेक वर्षोंसे गुजरात प्रान्त ही श्री पंडितजीका कार्यक्षेत्र रहा है। श्री पंडितजीके कार्योंसे न केवल पंडितजीका ही अपितु गुजरातका भी नाम प्रसिद्ध हुआ है। अतः क्या हम आशा करें कि अगले वर्ष पंडितजीकी जन्म शताब्दीके शुभावसर पर गुजरात या बडौदा विश्वविद्यालय पंडितजीका गौरव करेगा।'

'यह श्री पंडितजीका प्रभाव ही है कि इस जगह गुजरात, उत्तर प्रदेश, मैसूर, मद्रास, हैदराबाद, महाराष्ट्र, पंजाब आदि अनेक प्रान्तोंके निवासी सम्मिलित हुए हैं। भारतकी एकताका दर्शन इस पुनीत वेद मन्दिरमें किया जा सकता है।'

अन्तमें समानका प्रत्युत्तर देते हुए श्री पंडितजीने संस्कृतमें कहा– कि—

सम्मानका प्रत्युत्तर देते हुए डॉ. पं. सातवलेकर, (पाससे बैठ हुए) डॉ. टी. जी. माईणकर (पूना वि. वि.)

सम्मान्य अतिथिगण एवं प्रिय श्रोताओ!

आज आप सब मेरा सम्मान करनेके लिए यहां एकत्रित हुए हैं, उसके लिए मैं आप सबका हृदयसे आभारी हूँ।

पर आज जो आप यह सम्मान कर रहे हैं, वह मेरा सम्मान नहीं अपितु उस वेद भगवान्का है, जिसके प्रकाशमें आजतक मैं अपना कार्य करता आया हूँ। यदि मैं वेद भगवान्की शरणमें न जाकर और कुछ कार्य करता, तो संभवतः मैं इस सम्मानसे वंचित ही रह जाता। अतः यह सम्मान वेद भगवान्का ही है, ऐसा मैं समझता हूँ।

पिछले ४८–४९ वर्षोंसे मैं वेदोंका जो अध्ययन करता चला आ रहा हूँ, उस दौरानमें मुझे कई आश्चर्यजनक बातें भी मिलीं। मूल वेदोंके अध्ययनसे मुझे यह पता लगा कि वैदिककालकी संस्कृति एवं सभ्यता बहुत उन्नत थी। उस समयका साहित्य भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रोंमें

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

बहुत उत्तम था। हमारे प्राचीन ऋषिमुनि अध्यात्मविद्यामें तो प्रसिद्ध थे ही, पर भौतिकविद्यामें भी बहुत विकसित थे।

भौतिकविद्याको उन्नत करनेमें उनका एकमात्र लक्ष्य अपनी मातृभूमिकी उन्नति करना ही था। वे अपनी मातृभूमिकी रक्षाके लिए हरएक चीज समर्पित करनेके लिए तैय्यार रहते थे। अपनी मातृभूमिके विषयमें उनकी उदात्त भावनाओंका दर्शन अथर्ववेदके काण्ड १२ के प्रथम सूक्तमें किया जा सकता है। यह सूक्त वैदिकराष्ट्रगीत है। वैदिक-ऋषि स्पष्ट घोषणा करते हैं कि 'यह भूमि हमारी माता है, हम इसके पुत्र हैं। इसलिए हम इस पर नीरोग होकर आनन्दसे जीवन व्यतीत करें। साथ ही संकटकालीन स्थितिमें इसकी रक्षा करनेके लिए स्वयंकी बलि देनेके लिए भी तैय्यार रहें।' उनके लिए अपनी मातृभूमि और इन्द्रके नन्दनवनमें कोई भेद नहीं था। हमारे शिक्षाशास्त्री ऋषि, मुनि इस तथ्यसे अच्छी तरह परिचित थे कि शिक्षाके बिना हमारी मातृभूमिकी उन्नति असंभव है। इसीलिए विज्ञानवेद अथर्ववेदके प्रारंभमें ही विद्याके देव 'वाचस्पति' से प्रार्थना करते हुए कहा है कि "सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि" हे भगवन्! हम हमेशा ज्ञानके अनुकूल रहें, कभी भी ज्ञानके विरोधी न हों। शिक्षा राष्ट्रकी बुनियाद है। इस बातको दृष्टिमें रखकर ऋषियोंने आश्रमोंकी स्थापना की थी। ये आश्रम वस्तुतः विश्वविद्यालय थे। वसिष्ठके आश्रममें हजारों विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। उन सबके पालन-पोषणका भार उस आश्रमके कुलपति वसिष्ठ पर था।

एक दूसरा तथ्य जो सामने आया, वह था तत्कालीन विमानविद्याके बारेमें। जैसा कि मैं पहले ही कह आया हूँ कि वेदकालीन भारत भौतिक विज्ञानक्षेत्रमें भी अत्युन्नत था। अश्विनीकुमारोंके सूक्तोंमें अनेक ऐसे मन्त्र आये हैं, जो विमानोंका वर्णन करते हैं। ऋग्वेदमें एक मन्त्र आया है—

तिस्रः क्षपः त्रिः अह अतिव्रजद्भिः
नासत्या भुज्यं ऊहथुः पतंगैः।
समुद्रस्य धन्वन् आर्द्रस्य पारे
त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः॥
(ऋ० १।११६।४)

'हे अश्विनौ! तुमने छै घोडोंवाले, सौ पैरोंवाले, समुद्र, रेगिस्तान और नदनदियोंको पार कर जानेवाले तथा तीन रात तीन दिनतक लगातार उडान भरनेवाले पक्षियोंसे भुज्यु-को उठाया।'

यहां ये पक्षी विमान ही हैं जो छै अश्वशक्तिवाले अर्थात् छै छै हॉर्सपावरवाले तीन तीन मोटरोंसे युक्त होकर तीन रात और तीन दिनतक बिना कहीं रुके लगातार उडानें भरते थे, और समुद्र और रेगिस्तानोंको आसानीसे पार कर जाते थे। आजके विमान भी बिना बीचमें रुके और बिना ईंधन लिए इतने लम्बे समयतक नहीं उड सकते।

'हे अश्विनौ! तुम्हारे रथ तीन पहियोंवाले, वायुके समान वेगवान् अथवा उससे भी अधिक मनके समान वेगवाले तथा शीघ्र चलनेवाले पक्षियोंसे ढोये जानेवाले हैं।'
(ऋ० १।११८।१, ४)

अश्विनौके ये रथ आजके हेलीकॉप्टरकी तरह जहां चाहे वहां आकाशमें ही स्थिर किए जा सकते थे। इस प्रकार वेदोंमें विमान-विद्याका अद्भुत वर्णन है।

चिकित्साक्षेत्रमें भी वैदिकऋषि बहुत निपुण थे। चिकित्साशास्त्रका वर्णन अश्विनौके सूक्तोंमें और अथर्ववेदमें मिलता है। उसमें भी ऋग्वेदमें आए हुए चिकित्साशास्त्रकी साम्यता आजके एलोपेथी पद्धतिसे और अथर्ववेदके चिकित्साशास्त्रकी साम्यता आजके नेचुरोपेथीसे की जा सकती है। अश्विनौ ये दो देवोंकी एक जोडी है, जो हमेशा साथ साथ रहते हैं। ये दोनों वस्तुतः देवोंके वैद्य हैं। इनमें एक औषधिचिकित्सामें कुशल है और दूसरा शल्यचिकित्सामें। इन्होंने च्यवन ऋषिका कायाकल्प करके उसकी वृद्धावस्था दूर की और उसे फिरसे तरुण बनाया। इस कायाकल्पका प्रयोग दो जर्मन डॉक्टरोंने भी किया था, और उसमें उन्हें काफी सफलता भी मिली थी। आज भी बसईके पास आयुर्वैदिक वैद्योंकी देखरेखमें इसका प्रयोग किया जा रहा है। और उन्होंने पर्याप्त सफलता भी प्राप्त कर ली है। अश्विनौने इस विधिसे वृद्ध च्यवनके शरीर परसे झुर्रीदार चमडी उसी प्रकार उतार दी जिस प्रकार कोई अपने शरीर परसे कवच उतारता है।
(ऋ. १।११६।१०)

इसी प्रकार विश्पला नामक एक राजपुत्रीकी टांग युद्धमें कट गई थी, तो अश्विनौने उस कटी हुई टांगकी जगह एक लोहेकी टांग लगाकर उसे चलने फिरने योग्य बनाया। (ऋ. १।११६।१५) यह किस प्रकारका लोहा था? यह अन्वेषणीय है। इसी प्रकार आंखोंका ऑप्रेशन करके अन्धेको

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दृष्टिवाला बना देनेका वर्णन भी ऋग्वेदमें है। (ऋ. १।११६। १६) अथर्ववेदमें जलचिकित्सा, अग्निचिकित्सा, मणिचिकित्सा आदि प्राकृतिकचिकित्साओंका वर्णन है। अथर्ववेदमें कहा है—

अप्सु मे सोमोऽब्रवीत् अन्तः विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवं॥ (अथर्व. १।६।३)

'सोमने मुझसे कहा है कि जलके अन्दर सभी औषधियां हैं और अग्नि भी कल्याणकारी है।'

इस प्रकार अनेक भौतिक विद्याओंका वेदोंमें वर्णन है। जो तत्कालीन विकसित संस्कृति एवं सभ्यताके द्योतक हैं। इस प्रकार वेदोंके अध्ययनके दौरानमें अनेक आश्चर्यजनक तथ्य मेरे सामने आये, जिन्हें मैंने अपने ग्रन्थोंमें पाठकोंके सामने लानेका प्रयत्न किया है। मैं वस्तुतः उस वेदभगवान्-का ऋणी हूँ, जिसने मेरे हृदयमें ज्ञानकी ज्योति जलाई और लोगोंकी सेवा करनेका मुझे अवसर प्रदान किया।

अन्तमें, मैं पूना विश्वविद्यालयके अधिकारियोंका आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस सम्मानके योग्य समझा 'उस विश्वविद्यालयके तथा अन्य संस्थाओंके प्रतिनिधि, जो यहां उपस्थित हैं तथा अन्य सभी सज्जनोंका भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने यहां पधारनेकी कृपा की।'

इसके बाद राष्ट्र गीतके साथ इस समारोहकी समाप्ति हुई।

गीता पुरुषार्थ-बोधिनी

[लेखक— श्री पं. श्री. दा. सातवलेकर]

'मैंने श्री पं. सातवलेकरजी की लिखी हुई श्रीमद्भगवद्गीता पर 'पुरुषार्थ-बोधिनी' टीका पढी और मैं उससे अत्यन्त प्रभावित हुआ। यह टीका पढकर मैं समझ सका कि गीता केवल आध्यात्मग्रंथ ही नहीं है, अपितु वह इस लोकको बनानेवाला ग्रंथ भी है। वह संसार छोडकर और वीतराग बनकर जंगलमें जानेका उपदेश नहीं देती, अपितु संसारमें ही रहकर पग-पग पर आनेवाले संकटोंसे किस प्रकार टक्कर ली जाए, इसका मार्ग बताती है। मेरी यह निश्चित धारणा है कि यह प्रत्येक संस्था व कालेजोंके द्वारा एक संग्रह करने योग्य ग्रंथ है।'

—महात्मागांधी

'यह गीता पर एक अनोखी टीका है, जिसने गीताके एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर, जो आजतक विद्वानोंकी दृष्टिसे ओझल था, भरपूर प्रकाश डाला है। मुझे यह पढकर अत्यन्त आनन्द हुआ। मुझे आशा है कि पाठक इसे हृदयसे अपनायेंगे।'

—चिं. द्वा. देशमुख, उपकुलपति- दिल्ली विश्वविद्यालय

यह टीका अपने ढंगकी एक ही है। जिस किसीने भी इसे पढा, मुक्तकण्ठसे इसे सराहा। सभी उच्च कोटीके विद्वानोंने इसकी बडी प्रशंसा की। इसकी मांग अत्यधिक है, अतः पाठकोंके आग्रह पर हमें इसकी चौथी आवृत्ति निकालनी पडी। यह ग्रंथ हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी तीन भाषाओंमें मिल सकती है, आप भी शीघ्रता कीजिए।

शिक्षण-संस्थाओं तथा अन्य संस्थाओंको तथा व्यापारियोंको भी उचित कमीशन पर ये पुस्तकें मिल सकेंगी।

पृष्ठ संख्या ८५०] [मूल्य ३०) रुपये (डा. व्य. पृथक्)

पुस्तक तथा विस्तृत सूचीपत्रके लिए लिखें—

व्यवस्थापक- स्वाध्याय मण्डल, पोस्ट- 'स्वाध्याय मण्डल (पारडी),' पारडी [जि. बलसाड] (गुजरात)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हमारी संस्था एक स. २१ सन् १८६० ई. संख्या ४६३ पर रजि० है। नाम

संस्था जीवनप्राकृतिक चिकित्सालय

प्राकृतिक चिकित्सामें नई क्रांतिका शुभ संदेश

लेखक एवं प्रकाशक— श्री भरतसिंह वैद्य, प्राकृतिक चिकित्सक सी० ३४१, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली। पृष्ठ २५४, मूल्य रु. ३.००

"प्रस्तुत पुस्तकमें पंचमहाभूतोंके आधार पर रोग निवारणकी विधि और स्वस्थ रहनेके उपायों पर प्रकाश डाला गया है। आयुर्वेद तथा प्राकृतिक चिकित्साके अपने ज्ञान और अनुभवको लेखकने इतने सरल और सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है कि एक साधारण पाठक भी उसको पढकर लाभ उठा सकता है। स्वास्थ्य और सदाचार सम्बन्धी वैदिक मन्त्र और उनके भावार्थ देकर सृष्टिविज्ञानकी व्याख्या की गई है। शरीरकी रचना और उसके विविध अङ्गोंकी क्रियाओंका वर्णन करके रोगोंके निदान एवं उपचारके तरीके बताए गए हैं। जिन रोगियोंने इस चिकित्सा प्रणालीको अपनाकर अपने असाध्य एवं जीर्ण रोगोंसे मुक्ति पाई, उनका विवरण पढनेसे पुस्तककी प्रमाणिकता सिद्ध होती है। लेखककी मान्यता है कि प्रायः सभी रोग मिट्टीके प्रयोगसे दूर किए जा सकते हैं। स्वास्थ्य और उपचारमें दिलचस्पी रखनेवाले पाठक इस उपयोगी पुस्तकका स्वागत करेंगे, ऐसी आशा है।"

११-३-६२ दैनिक हिन्दुस्तान, नई देहली

मैंने सन् १९२१ ई. से डा. लुई कोहनीकी प्रणाली व अन्य प्राकृतिक चिकित्सा प्रणालियोंका अध्ययन आरम्भ किया, सन् १९३२ ई. तक रोगियों पर भी परीक्षण करता रहा, सन् १९३३ ई. से मैंने आयुर्वेदिक औषधालय मेरठ शहरमें खोल दिया, इसे २५ वर्ष तक अन्य स्थानोंमें भी चलाया। साथमें कभी कभी प्राकृतिक चिकित्साके प्रयोग भी करता रहा, इसके साथ पंचमहाभूत विज्ञानके अनुसंधानके लिये महर्षि दयानन्द सरस्वतीजीका वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका व यजुर्वेदभाष्यको व अन्य दर्शनोंसे प्रमाण संग्रहकरके वानप्रस्थ समान जीवन व्यतीत करनेका संकल्प लिया अर्थात् सन् १९५८ में औषधालय बिलकुल बन्द कर दिया और जुलाई १९५८ में स्वर्गीय महात्मा गांधीजीकी निसर्गोपचारकी नियमावली उरुलीकाचन (पूना) से मंगाकर ग्रामीण जनताको चिकित्सामें आत्मनिर्भर बनानेके उद्देश्यको पाकर मिट्टीकी पट्टी द्वारा सरल-सूक्ष्म सिद्धांत आरम्भ किया। जो पांच वर्षतक सैंकडों रोगियोंपर शहरों-कस्बों-ग्रामोंमें निरीक्षण-परीक्षण-चिकित्सा द्वारा सभी रोगोंपर एक समान लाभकारी सिद्ध हुआ। इसी सिद्धांतसे टबस्नान-ऐनिमा, निराहार उपवास अन्य उपकरणकी जरूरत समाप्त हो गई है। और शरीरकी रचनाके मूलाधार चार स्तम्भ निश्चय हुए अन्न-शुक्र (वीर्य) श्रम-निद्रा इनकी शुद्धि पुष्टिसे शरीर व आत्माके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इस ज्ञानको लिपिबद्ध करनेके लिये दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रथम जीवनसंदेश (प्राणचिकित्सा) जिसका मूल्य ३.०० है। दूसरी पंचमहाभूत विज्ञान पृष्ठ १६६ मूल्य १.०० डाकव्यय पृथक् है। चिकित्सालय पर निःशुल्क चिकित्सा होती है। विद्यार्थियोंके लिये शिक्षण, परीक्षण, चिकित्साविधि सिखानेका प्रबन्ध करनेका निश्चय है।

पता नं. १ भरतसिंह वैद्य, मंत्री- 'जीवन प्राकृतिक चिकित्सालय' गालिबपुर, डा. खास, जि. मुजफ्फरनगर

पता नं. २ डा. रामचन्द्रसिंहजी, C 341, सरोजनी नगर, नई देहली

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पूना विश्वविद्यालयके प्रतिनिधि डॉ. टी. जी. माईणकर श्री पंडितजीको
उपाधिपत्र प्रदान करते हुए ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समारोहका प्रारंभिक भाषण करते हुए डॉ. टी. जी. माईणकर, (डीन ऑफ फॅकल्टी ऑफ आर्ट्स, एवं प्रतिनिधि पूना विश्वविद्यालय ।)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

श्री [illegible] उप[illegible] [illegible]कोठी,
'हरि निवास' १/[illegible],
[illegible]

मैत्री-भावनाका महत्त्व

[लेखक— श्री शिवनारायण सक्सेना, एम. ए., विद्यावाचस्पति, सि. प्रभाकर]

महात्मा विदुरने 'विदुरनीति' में वास्तविक मित्रके गुणों पर प्रकाश डालते हुये कहा है:—

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥
(७।५०)

अर्थात् मित्र तो ऐसा होना चाहिये जो कृतज्ञ, धार्मिक, सत्यवादी, उदार, दृढ अनुराग रखनेवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादाके भीतर रहनेवाला और मैत्रीका त्याग न करनेवाला हो।

इस प्रकारके आदर्श गुणोंको धारण करनेवाले व्यक्तियोंकी मित्रता दीर्घकालतक स्थायी रूपसे चलती है। पर समय पडने पर छोटेसे छोटे व्यक्तियोंसे भी अपने कार्यमें सहयोग प्राप्त होता है अतः आवश्यकता तो इस बातकी है हमारी मैत्रीय भावनाका विकास एक दो व्यक्तियोंतक सीमित न रहकर अधिकसे अधिक व्यक्तियोंतक विस्तृत होनी चाहिये। जीवनमें सच्चे मित्रकी प्राप्ति अस्वस्थ व्यक्तिके लिये रामबाण औषधि, तथा निर्धन व्यक्तिके लिए अच्छी खासी धनराशि प्राप्त करनेके समान है। मित्र तो थोडे बहुत सबके ही होते हैं पर वास्तविक मित्र वही होता है जो बिगडे समयमें सेवाभावसे सहायता करे। मित्रका चुनाव करनेसे पूर्व—उसके सम्बन्धमें सभी प्रकारकी जानकारी प्राप्त कर लेना उचित है क्योंकि आजकी मित्रतामें स्वार्थकी गन्ध आती रहती है। स्वार्थके वशीभूत हो एक व्यक्ति दूसरेसे बोलता चालता और खिलाता पिलाता रहता है। जब काम पूर्ण हो जाता है तभी मैत्रीय भावनाका अन्त होते देखा जाता है। विदेशी विचारक एडिसनने मित्रताके लिये 'विश्वास' जैसे तत्त्वको अधिक महत्त्व देते हुये स्पष्ट कहा है— 'यदि तुम अपने मित्रके प्रति हाथ उठाते हो तो घबराओ मत, सम्भव है कि वह क्षमा कर दे। यदि तुम उसकी निंदा करते हो तो परवाह नहीं, सम्भव है है कि फिर मेल हो जाय। परन्तु ध्यान रहे कि कभी भी मित्रके गुप्त भेदोंको न खोलो, क्योंकि यह विश्वासघात है। विश्वासघाती मनुष्यसे कोई भी मित्रता नहीं कर सकता।... पुराना मित्र पुरानी शराबके सदृश है और नया नयेकी तरह। पुरानी शराबके पीनेमें अधिक आनन्द मिलता है और वह स्वास्थ्यके लिये भी लाभदायक है। अतः पुराने मित्रको कभी नहीं छोडना चाहिये।'

सज्जन व्यक्ति कभी भी अपनी मित्रतामें दिखावा नहीं करते, प्रारंभमें मित्रता चाहे साधारण परिचयसे भले ही प्रारंभ हो पर बढते बढते दो शरीर और एक प्राणका रूप ले लेती है। जब इसके विपरीत स्वार्थी और दुष्ट व्यक्ति प्रारंभमें इतनी अधिक घनिष्ठता स्पष्ट करते हैं पर बादको बढनेके स्थान पर स्नेह सूत्र शनैः शनैः ढीले ही पडते जाते हैं। दूसरेके सुखदुःखमें सुखी और दुःखी होना, बिगडे समयमें पूर्ण रूपसे तन, मन, धनकी सहायता करना, घर आने या मार्गमें ही भेंट होने पर यथोचित सत्कार प्रदान करना मैत्री बढानेके साधन है। क्योंकि व्यवहार कुशलता और कर्तव्यनिष्ठा ही ऐसे अमोघ साधन हैं, जो शत्रुको मित्र और मित्रको शत्रु बना देते हैं अतः हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि बातचीतके मध्य कभी कटुता उत्पन्न न हो, कटुता, शंका, और विश्वासघातके द्वारा ही मित्रताकी समाप्ति हो जाती है। बिना पूर्ण विश्वास किये किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा अपने मित्र पर लगाये आरोपोंको सत्य न मान लेना चाहिये। क्योंकि कभी कभी दो व्यक्तियोंके सम्बन्धोंसे ईर्ष्या द्वेष मान कर इधर उधरकी मिलाकर सम्बन्ध विच्छेद करनेवाले भी बहुतसे व्यक्ति मिल जाया करते हैं जिनका उद्देश्य दूसरोंको लडाकर स्वयं तमाशा देखना होता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सच्ची मित्रतामें ऊँच नीच, भेदभाव और जाति पांतिके सारे बन्धन समाप्त हो जाते हैं। मित्रताका आनन्द समानतामें ही है क्योंकि ऐसी मित्रतामें छोटे बडेकी भावना सम्मुख नहीं आती। जहाँ तक सहायताका प्रश्न है वह सज्जन मित्रके द्वारा ही प्राप्त हुआ करती है। इसीलिये सन्त तुलसीदासने कहा भी है 'सज्जनोंकी मित्रता गम्भीर होती है। उनसे शीघ्र मित्रता होती ही नहीं, पर होनेपर छूटती भी नहीं। इसके विरुद्ध दुष्टोंसे शीघ्र मित्रता हो जाती है और अनायास छूट भी जाती है। इनकी मित्रता बडी भयानक होती है।' दैनिक जीवनमें यह बात भी अनुभवमें आई है कि कठिनसे कठिन ऐसे कार्य कभी कभी जो पत्नी, पडोसी, नौकर, भाई तथा अन्य सम्बन्धी करनेमें असमर्थ रहते हैं, सच्चे मित्र की सहायतासे पलभरमें हलकर लिये जाते हैं। बडे बडे राजा महाराजाओंके जीवनमें भी ऐसी कितनी घटनाएँ देखनेको मिली हैं कि उन्होंने अपने मित्रोंकी सहायता लेकर शत्रु पक्षको नाकों चने चबवा दिये।

यदि आप किसीको अपना मित्र या शत्रु बनाना चाहें तो बना सकते हैं। आपका मधुर भाषण, दूसरोंके प्रति सहानुभूति और व्यक्तित्व सहज ही दूसरोंको अपनी ओर आकर्षित कर लेगा। हमें भूलकर भी दूसरेकी निन्दा न करनी चाहिये और न सुननी ही चाहिये। एक दूसरेकी निन्दा करनेसे भी आपसी हृदयोंमें तनाव पैदा हो जाता है। कभी कभी तो साधारणसी बातमें कहा सुनी हो जानेपर रक्षक भक्षकका रूप धारण कर लेते हैं। इसीलिये तो कहा जाता है कि नादानकी दोस्ती जीका जंजाल होता है क्योंकि मूर्ख मित्रसे तो ईमानदार और विद्वान् शत्रु ही अच्छा होता है। विद्वान् और सज्जन व्यक्ति कभी कभी साधारणसे परिचयमें ही काम बना दिया करते हैं जब कि मूर्ख घनिष्टता रखनेवाले मित्रोंके पास बातोंके अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होता।

एक विचारकने कहा है 'मित्र पांच प्रकारके होते हैं सहार्थ, सहज, कृत्रिम, भजमान और धर्मात्मा। अपने लिये जो मैत्री करता है वह सहार्थ मित्र है। पिता, भ्राता, श्वसुर, मामा आदि सहज मित्र हैं। धन लेनेके लिये जो मित्रता करता वह कृत्रिम मित्र है। जिनके साथ व्यवहारकी मित्रता है वे भजमान मित्र हैं। जिसके मनमें केवल प्रेम है और लोभ नहीं तथा अपने धर्म पालनमें शूर है उसे धर्मात्मा मित्र कहते हैं।' वास्तवमें हमें ऐसे मित्रोंकी ही आवश्यकता है जो धर्मात्मा हों, जिनमें लोभ और मोहकी वृत्ति न हो। वैसे साथी तो तमाम बन जाते हैं पर ऐसे साथियोंसे काम तो नहीं चलता। भय और शंकाके आवरणको हटाकर जब प्रेम, सद्भावना, और विश्वास जैसी विचारधाराओंका सूत्रपात होता है तभी सच्ची मित्रताका आनन्द भोगनेको मिलता है। गोपनीयसे गोपनीय बातें मित्रसे नहीं छिपाई जातीं पर उसका भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वह किसी दूसरेसे न कहे और न कमियोंका अनुभव करके घृणाका भाव पैदा करे।

मित्रके चुनाव करते समय प्रसिद्ध तत्त्वदर्शी अरस्तूकी सलाहपर भी ध्यान रखना चाहिये 'जो माता पिताके साथ पुत्रधर्मको, राजाके साथ प्रजाधर्मको, स्वामीके साथ सेवक धर्मको भलीभाँति निभाता हो, जो धनाकांक्षी और तन पोषक न हो, खेल तमाशे और नाचरंगमें जिसका अनुराग न हो, खल और मूर्ख जिसके साथी न हों, कलह और हिंसासे जो दूर रहता हो तथा जो विश्वके प्रत्येक जीवोंके प्रति दयाका भाव रखता हो उसे ही अपना मित्र बनाना चाहिये।'

सच्चे और आदर्श मित्रोंकी प्राप्ति जिसे हो गई फिर जीवनमें और कुछ पाना शेष भी नहीं रह गया। येसु तो सच्ची मित्रतामें अपने प्राणोंको बलिदान करना तक उचित समझते थे क्योंकि प्राणोंका मोह छोडकर भी मित्रकी सहायता करना सबसे बडा प्रेम है। फादर मोरवाने 'कैथोलिक धर्म ज्ञान' पुस्तकके अनुवादमें कहा भी है 'सच्चे मित्रगणको ईश्वरसे प्राप्त संचित पूँजी समझो। सच्चे मित्र आपसमें एक दूसरेको ऊंची दृष्टिसे देखते हैं। वे सुख दुःखमें एक दूसरेके विश्वासपात्र होते हैं, एक दूसरेके लिये प्रार्थना करते हैं और परस्पर सहायता देनेको तत्काल प्रस्तुत और तत्पर रहते हैं।

अतः श्रेष्ठ आर्य सन्तानों! सुहृद मित्रका परित्याग कभी न करते हुये अपने मित्रकी कृपा, सहायता तथा अहसानको कभी न भूलो। और अपने व्यवहारमें इतनी मृदुलता रखो जिससे मित्रताकी भावनाका विकास होता रहे। तुम्हारा व्यवहार ही तुम्हारे मित्रोंकी न्यूनता और अधिकताके परिणामके रूपमें तुम्हारे सम्मुख है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इस देशके भिन्न-भिन्न नाम

(लेखक— श्री प्रो. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, संसद्-सदस्य)

[गताङ्कसे आगे]

परन्तु भारतवर्षका विस्तार हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक ही रहा हो— ऐसा प्रतीत नहीं होता। समय आया जब 'भारतवर्ष'- शब्दका प्रयोग विशाल भारतके लिये प्रयुक्त होने लगा, हिमालय तथा कन्याकुमारीसे बाहरके प्रदेश भी भारतके अन्तर्गत आ गये। संभव है, भरतकी तरह इस देशमें अन्य राजा हुए जिन्होंने अपने पराक्रमसे अन्य अनेक प्रदेशोंको जीत कर भारतमें सन्निविष्ट किया। मत्स्य तथा वायु पुराणमें लिखा है 'भारतस्यास्य वर्षस्य नवभेदान् निबोध मे— अर्थात्, भारतवर्षके नौ विभागोंको सुन। ये नौ विभाग कौनसे थे ? पुराणमें लिखा है—

इन्द्रद्वीपः कशेरुमान् ताम्रपर्णो गभस्तिमान्
नागद्वीपस्तथा सौम्यो गान्धर्वो वारुणस्तथा॥
अयं तु नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः
योजनानां सहस्रं वै द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरान्॥

भारतवर्षके नौ द्वीपोंमें वह भारत जिसका वर्णन हो रहा है उसे नवम द्वीप कहा गया है। पुराणोंमें इस नवम द्वीपका नाम नहीं दिया गया, परन्तु राजशेखरने अपनी काव्यमीमांसामें इस नवम द्वीपका नाम 'कुमारी द्वीप' लिखा है। राजशेखर लिखते हैं-- 'तत्रेदं भारतवर्षम्। अस्य च नवभेदाः। इन्द्रद्वीप ··· कुमारीद्वीपश्चायं नवमः।' कुमारीद्वीपके लिये पुराणमें 'सागरसंवृतः' विशेषण आया है जिसका अर्थ है— 'समुद्रसे घिरा हुआ'। अलबूनी (११ वीं ईस्वी) में 'सागरसंवृत' की जगह 'नागरसंवृत' शब्द का प्रयोग किया है जो 'सागरसंवृतः' का ही रूपान्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों भारतवर्षके राजा लोग अपने राज्यका क्षेत्र बढाते गये, त्यों त्यों इन्द्रद्वीप, कशेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान् आदि प्रदेशोंमें भी उन्होंने अपने राज्यका विस्तार कर लिया। इसीसे वे चक्रवर्ती राज्य कहते थे, और इन संपूर्ण प्रदेशोंको वे भारतवर्ष कहने लगे, और 'भारतवर्ष' शब्दका प्रयोग सिर्फ भारतके लिये सीमित न रहकर विशाल भारतके लिये होने लगा।

५ हिन्दुस्तान

(क) पूर्व मध्य-युगमें आर्यावर्त तथा भारतवर्ष नाम लुप्त हो गये— हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकका इससे दूर-दूरतक भी जबतक यह देश एक शासनके अधीन रहा तबतक इसका नाम 'भारतवर्ष' रहा, परन्तु पूर्व मध्ययुगका ऐसा समय आया जब देशका शासन छिन्न-भिन्न हो गया, यह देश खंड-खंड हो गया, यहां वहां जगह-जगह भिन्न-भिन्न राज्य स्थापित हो गये। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इस संपूर्ण देशका नाम कुछ न रहा। भिन्न-भिन्न राजा थे, वे आपसमें लडते थे, एक दूसरे पर विजय पानेका प्रयत्न करते थे, जिसका जितना राज्य था उतने राज्य का ही नाम लिया जाता था।

ईसासे छठी शताब्दी पूर्वके समयसे भारतकी एकता नष्ट होनी प्रारम्भ हो गई थी। बौद्ध- साहित्यके अध्ययनसे प्रतीत होता है छठी शताब्दी ई० पू० के समय इस देशमें सोलह महाजनपद बन चुके थे; एक तरहके १६ भिन्न-भिन्न राज्य उठ खडे हुए थे जो एक-दूसरेसे लडते-झगडते और एक दूसरे पर विजय पानेके लिये उत्सुक रहते थे। उन महाजनपदोंके नाम थे ··· अंग, मगध, काशी, कौशल, वृजि, मल्ल, चेदि वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार और कम्बोज। इनमेंसे वृजि, मल्ल और शूरसेन इन ३ में गणतन्त्र राज्य था और शेष १३ में राज्यतंत्र। इन राज्यतंत्र राज्योंमें मगधका राज्य सबसे प्रबल था। मगधके सम्राट्ने उत्तरी बिहारके गण-राज्योंको जीत कर अपने अधीन कर लिया था। मगधके सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उसके अमात्य आचार्य चाणक्यके समय ३२३ ई० पू० के लगभग सिकन्दरके प्रतिनिधि सैल्यूकसने इस देश पर आक्रमण किया, उस समय इस देशकी प्रधान राज-शक्ति मगधकी ही थी, उस समय विदेशी आक्रमणके कारण भिन्न-भिन्न राज्योंमें अपनी रक्षाकी भावनाके कारण एकता उत्पन्न हुई, देश एकताके सूत्रमें बंधा, परन्तु उस एकताके समय 'आर्यावर्त' या 'भारतवर्ष' जैसे किसी नामका पुनरुज्जीवन नहीं हुआ, उस समय चन्द्रगुप्तका जो राज्य था वह मागध-राज्य कहलाया, परन्तु आर्यावर्त या भारतवर्ष आदि शब्दोंका तत्कालीन साहित्यमें कहीं उल्लेख नहीं हुआ।

इस देशके इतिहासके पूर्व मध्य-युगमें संपूर्ण देशका कोई एक नाम नहीं था। कुछ समयके लिए चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोकके समय देशमें प्रशासनिक एकताका सूत्रपात हुआ परन्तु उस समय आर्यावर्त या भारतवर्षकी जगह मगधके सम्राट्का उल्लेख होता रहा, मगध-राज्यका उल्लेख होता रहा, इस देशके प्राचीन नामका उल्लेख इसलिये नहीं होता रहा क्योंकि उस समय संपूर्ण देश अनेक राज्योंमें विभक्त था, और जो राज्य सबपर प्रबल हो गया था उसी राज्यका उल्लेख हो सकता था।

मगधके साम्राज्यके बाद फिर यह देश छोटे-छोटे राज्योंमें विभक्त हो गया। मगधका राज्य भी क्षीण हो गया। दूसरी सदी ई. पू. में यवन, शक, हूण और कुशाण जातियोंने इस देशपर आक्रमण करने शुरु कर दिये। इस समय देशकी राजनैतिक एकता सर्वथा क्षीण हो गई, जब देशको एक सूत्रमें बांध देनेवाली कोई शक्ति न रही तब देशका एक नाम कहां रहता ?

राजनैतिक तथा प्रशासनिक एकताके न रहनेपर भी इस समय धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता देशके एक कोनेके दूसरे कोनेतक बनी हुई थी। देशका नाम न आर्यावर्त रहा था, न भारतवर्ष रहा था, परन्तु बौद्ध-ग्रन्थोंमें जीवनके मार्गको 'अष्टांगिक आर्यमार्ग' तथा धार्मिक आचारको 'चत्वारि आर्य-सत्यानि' कहा जाता था, वैदिक-युगके 'आर्य' शब्दकी जो इस देशकी संस्कृतिका सूचक था, ध्वनि अब भी यहां गूंज रही थी। आश्चर्य इसी बातका है कि संपूर्ण देशके लिये इस समय किसी एक शब्दका प्रयोग नहीं हो रहा था। आचार्य चाणक्यके अर्थशास्त्रमें भी जो चन्द्रगुप्त मौर्यके समय लिखा गया था इस देशको 'चक्रवर्ती क्षेत्र' तो कहा गया है, किसी नाम विशेषसे स्मरण नहीं किया गया। वहां लिखा है—

> देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणमतिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम्। ९।१

अर्थात् वह भूमि जो उत्तरसे दक्षिणकी तरफ, हिमालयसे समुद्रकी तरफ फैली हुई है वह 'चक्रवर्तिक्षेत्र' है।

अशोकके चौदह शिलालेख पेशावरमें, देहरादूनमें, बम्बईमें, उडीसामें, आन्ध्र प्रदेशमें सब जगह मिले है, परन्तु किसी शिलालेखमें इस संपूर्ण देशके लिये आर्यावर्त या भारतवर्ष शब्दका उल्लेख नहीं मिलता क्योंकि अशोककी गति-विधि राजनैतिक न रहकर सांस्कृतिक हो गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकालमें भारतकी जो राजनैतिक तथा सांस्कृतिक एकता उत्पन्न हो गई थी उन दोनोंमेंसे इस समयतक राजनैतिक एकता नष्ट हो चुकी थी या होती जा रही थी, केवल सांस्कृतिक एकता ही अब अवशिष्ट रह गई थी। इसीलिये राजनैतिक एकताका सूचक संपूर्ण देशके लिये प्रयुक्त होनेवाला कोई एक शब्द जीवित नहीं रहा था, सांस्कृतिक एकताका सूचक 'आर्य' शब्द बौद्ध तथा संस्कृत साहित्यमें अभी जीवित था।

(ख) मध्य युगमें मुसलमानोंने इस देशको 'हिन्दुस्तान' का नाम दिया— मगध साम्राज्यके बाद फिर भारतकी राजनैतिक एकता धीरे-धीरे क्षीण होती गई और १२ वीं शताब्दीके अन्ततक ऐसा समय भी आ गया जब इस देशमें मुसलमान आक्रान्ताओंका राज्य स्थापित हो गया। यह संपूर्ण काल इस देशके इतिहासका मध्ययुग है।

वैसे तो मुसलमानोंका इस देशपर पहला हमला ७१२ ई. मुहम्मद बिन कासिमने किया, परन्तु वह सिन्ध क्षेत्रपर ही अपने राज्यको स्थापित कर सका। मुसलमानोंका नियमित शासन इस देशमें १२ वीं शताब्दीमें स्थापित हुआ। जिस समय इस देशमें मुसलमान आये उस समय चन्द्रगुप्त मौर्य और आचार्य चाणक्यके समयका वह देश जो हिन्दूकुश पर्वतमालाके पार वाल्हीक देशतक चला गया था नष्ट हो चुका था। देशमें अनेक राजवंश उठ खडे हुए थे, ये आपसमें लडा करते थे। ८ वीं शताब्दीमें इस देशके उत्तरमें

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पाल, गुर्जर-प्रतीहार, कर्कटक राजवंश राज करते थे, दक्षिणमें राष्ट्रकूट, पल्लव, गंग, चोल, चालुक्य राज करते थे। यह दशा अनेक सदियोंतक बनी रही, इसलिये जब मुसलमानोंने इस देशपर आक्रमण किया, तब राजनैतिक एकता न होनेके कारण उन्होंने सब राजाओंको परास्त कर दिया और १२ वीं शताब्दीसे मुसलमानोंके इस देशमें पांव स्थिर तौर पर जमने लगे। हम पहले कह चुके हैं कि पूर्व मध्य तथा मध्य युगमें सारा देश भिन्न-भिन्न राज्यों तथा राजवंशोंमें बंटा हुआ था, इसलिये इस समूचे देशका अब कोई एक नाम नहीं रहा था, समूचे देशका नाम तो तब होता जब समूचे देशकी राजनैतिक इकाई होती। मुसलमान जब आये तब उन्होंने भिन्न-भिन्न राज्यों तथा राजवंशोंको जीतकर संपूर्ण देशको एक राजनैतिक इकाईमें बांध दिया। जिन प्रदेशोंसे मुसलमान आये थे वहां इस देशको 'हिन्दुस्तान' कहा जाता था, इसलिये जब वे यहां आकर बस गये तब उन्होंने इस देशको 'हिन्दुस्तान' कहना शुरु किया। उन्हें संपूर्ण देशको एक नाम देनेकी आवश्यकता इसलिये अनुभव हुई क्योंकि उनके शासनमें आकर देशमें राजनैतिक एकसूत्रता उत्पन्न हो गई जिसका अबतक सदियोंसे अभाव था।

(ग) 'हिन्दुस्तान' शब्दकी उत्पत्ति- यह तो स्पष्ट है कि 'हिन्दुस्तान' शब्द इस देशका विदेशियोंका दिया हुआ नाम है, इस देशके रहनेवाले तो प्राचीन-कालमें इसे 'आर्यावर्त' तथा 'भारतवर्ष' कहते थे, पूर्व मध्ययुगमें यहांके निवासी इस देशके खंड-खंड हो जानेके कारण इस समूचे देशके लिये किसी एक शब्दका प्रयोग ही नहीं करते थे। पहले-पहल मुसलमानोंने देशभरमें प्रशासनिक एकताके कारण इसका नाम 'हिन्दुस्तान' रखा, परन्तु प्रश्न यह है कि मुसलमानोंने इसे 'हिन्दुस्तान' क्यों कहा? कई लोगोंका कहना है कि फारसी भाषामें 'हिन्दु' शब्दका अर्थ चोर, डाकू, काला है, और इसी अर्थमें मुसलमानोंने यह नाम इस देशके वासियोंको दिया। असल बात यह है कि फारसी लुगत (डिक्शनरी) में 'हिन्दू' का अर्थ चोर, काला आदि अवश्य है, परन्तु मूलरूपमें इस शब्दका यह अर्थ नहीं है।

'हिन्दू'- शब्द 'सिन्धु' का अपभ्रंश है। फारसी भाषामें 'स' के स्थानमें 'ह' हो जाता है। उदाहरणार्थ, फारसीमें 'असुर' के लिये 'अहुर' शब्दका प्रयोग होता है। भाषा- विज्ञानकी दृष्टिसे 'स' का 'ह' उच्चारण करना कोई नई बात नहीं है। 'सप्ताह' की जगह 'हफ्ता' इस नियमका उदाहरण है। गुजराती भाषामें 'ससुर' को 'हहुर', 'स्रोता' को 'होता' कहते हैं। अगर 'हिन्दु' -शब्द 'सिन्धु' -शब्दका अपभ्रंश है, तब यह तो स्वतः सिद्ध है कि यह भौगोलिक शब्द है, एक भूखंडका सूचक है, किसी धर्मका सम्प्रदायका सूचक नहीं है, और न इसका मूल अर्थ चोर, डाकू, काला आदि है।

ऐसी अवस्थामें दो प्रश्न उठ खडे होते हैं। पहला प्रश्न तो यह कि अगर 'हिन्दू' -शब्द किसी धर्म, सम्प्रदाय या जाति- विशेषका सूचक नहीं है, तो फारसी लुगतमें इसका अर्थ चोर, डाकू, काला आदमी अर्थ क्यों है, दूसरा प्रश्न यह कि अगर 'हिन्दू' -शब्द 'सिन्धु' का अपभ्रंश है तो क्या भारतीय या अन्य किसी देशके साहित्यमें 'सिन्धु' नामका कोई देश था, या 'सिन्धु'-शब्द सिर्फ सिन्ध नदीके लिये ही व्यवहृत होता था, किसी देश-विशेषके लिये व्यवहृत नहीं होता था।

(घ) फारसी लुगतमें 'हिन्दु' का अर्थ चोर आदि क्यों है... जो लोग 'हिन्दु'- शब्दका विरोध करते हैं उनका कहना है कि इस शब्दका फारसी शब्दकोशमें अर्थ चोर, काला, डाकू, लुटेरा आदि है, इसलिये इस शब्दको हमारे लिये ग्रहण करना उचित नहीं है। दूसरे पक्षके लोग कहते हैं कि इस शब्दका मूल अर्थ चोर आदि नहीं है यह एक भौगोलिक शब्द है. इसलिये इस शब्दको अपनानेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि 'हिन्दु' शब्द जो 'सिन्धु' का अपभ्रंश होनेके कारण सिन्ध- प्रदेशका सूचक था, उसका अर्थ फारसी भाषामें चोर- लुटेरा हो गया।

हमें यह ध्यानमें रखना होगा कि शब्दोंके अर्थ समयानुसार बदलते रहते है। 'देवानां प्रियः' का अर्थ अशोकके शिलालेखोंमें देवताओंका प्यारा है; परन्तु क्योंकि बौद्धों, तथा भारतके अन्य प्रांतोंमें पारस्परिक कलह उत्पन्न हो गया इस लिये सिद्धान्तकौमुदीमें 'देवानां प्रियः' का अर्थ देवताओं-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्यारेके स्थानमें 'मूर्ख' हो गया। कोई समय था जबके आर्यकी दो शाखाएं हो गई थीं। 'ऋग्वैदिक इंडिया' के लेखक श्री दासका कथन है कि आर्योंकी मूल शाखा सिन्ध-प्रदेशमें रहती थी, इन्हीं आर्योंकी एक दूसरी शाखा फारस देशमें आ बसी। डा. हाग आदि पाश्चात्य लेखकोंका भी कथन है कि आर्य किसी अन्य प्रदेशसे आते हुए पहले फारसमें आ बसे, और फारसमें उनकी दो शाखाएं हो गईं जिनमेंसे एक तो फारसमें ही बसी रही, दूसरी सिन्ध नदी पार आ बसी। दोनों प्रकारके लेखकोंका कथन है कि आर्योंकी ये दोनों शाखाएं पहले तो प्रेमसे रहती थीं, परन्तु कालान्तरमें इनमें झगडा उठ खडा हुआ। पहले इनके देवी-देवता एक ही थे, परंतु झगडेके बाद इनके देवी-देवता भी एकदूसरेसे उलट गये। भारतमें आ बसनेवाले आर्योंका 'इन्द्र' तो देवता बना रहा, परन्तु फारसमें रह जानेवाले आर्योंमें यह इन्द्र एक राक्षस माना जाने लगा। भारतीय आर्योंमें राक्षसके लिये असुर शब्द था, फारसी आर्योंमें 'अहुर' शब्द परमेश्वरके लिये प्रयुक्त होने लगा। सातवीं शताब्दीमें फारसमें इस्लामने प्रवेश किया। फारसी तथा सिन्धु-प्रदेशके आर्योंमें जो कलह था उसका यह परिणाम हुआ कि फारसी लोग जब मुसलमान हो गये, तब ये मुसलमान भी सिन्धु-प्रदेशमें बसनेवाले आर्योंको अपशब्दोंसे स्मरण करने लगे। अबतक पारसीलोग सिन्ध पार रहनेवाले आर्योंको 'सिन्धु' या 'हिन्दु' कहते थे, अब ये पारसी मुसलमान हो जानेके बाद भी उन्हें 'हिन्दु' कहते रहे, और क्योंकि पारसियों और सिन्धु-प्रदेशके आर्योंमें झगडा चला आता था, इसलिये इन पारसी मुसलमानोंके शब्दकोषमें 'हिन्दु' का अर्थ चोर-लुटेरा लिखा जाने लगा, ठीक उस तरह जैसे 'देवानां प्रियः' का अर्थ संस्कृतमें मूर्ख समझा जाने लगा। यह ध्यान रखनेकी बात है कि पारसियोंके धर्मग्रन्थ जिन्दा-वस्थामें या उसके बादकी पहलवी भाषामें 'हिन्दू' शब्दका अर्थ कहीं चोर-डाकू आदि नहीं है, पारसियोंके प्रचीन ग्रन्थोंमें 'हिन्दू' – शब्दका जैसा हम आगे देखेंगे, भौगोलिक अर्थोंमें ही प्रयोग किया गया है।

(घ) प्राचीन फारसी तथा प्राचीन भारतीय साहित्य तथा चीनी साहित्यमें 'सिन्धु' या 'हिन्दु' का अर्थ चोर न होकर 'सिन्धु' नामका देश था— जो लोग 'सिन्धु' तथा 'हिन्दु' नामपर आपत्ति करते हैं वे कहा करते हैं कि इस बातका क्या प्रमाण है कि 'सिन्धु' नामका कोई प्रदेश था। 'सिन्धु' नामकी नदीकी बातको तो वे मान लेते हैं, परन्तु भारतीयोंने कभी 'सिन्धु' नाम किसी प्रदेशके लिये प्रयुक्त किया हो इस विषयमें वे सन्देह प्रकट करते हैं।

फारस तथा भारत दोनोंके प्राचीन साहित्यके अध्ययनसे प्रतीत होता है कि फारसी-साहित्य तथा भारतीय-साहित्य-दोनोंमें 'सिन्धु' अर्थात् 'हिन्दू' शब्द चोर-काला-डाकू आदि अर्थोंमें प्रयुक्त न होकर सिन्धु-प्रदेशके लिये प्रयुक्त होता था। पहले इन प्राचीन फारसी साहित्य, फिर प्राचीन भारतीय साहित्य तथा तदनन्तर चीनी साहित्यमें इस शब्दकी स्थितिके सम्बन्धमें विचार करेंगे।

(१) प्राचीन फारसी साहित्यमें 'सिन्धु' शब्द— फारसी साहित्यका एक प्राचीन ग्रन्थ है– वेन्दीदाद। इसके अध्यायोंको फरगार्ड कहते हैं। वेन्दीदादके प्रथम फरगार्डके १९ वें खंडमें लिखा है:—

अहुर्मज्द (पारसियोंका परमेश्वर) ने जरथुश्र (पारसियोंके प्रथम पैगम्बर) को कहा— हे जरथुश्र। मैंने एक सुन्दर स्थान उत्पन्न किया जहां पहले कोई निवास नहीं कर सकता था। अगर मैं उसका निर्माण न करता, तो सारी सृष्टि 'आर्यन-वीज' में उमड पडती क्योंकि वही उस समय पृथ्वीका स्वर्ग था। उस स्थानपर शरद्के १० तथा ग्रीष्मके २ मास होते थे। उसके बाद मैंने मानवके लिए एक दूसरे स्थानका निर्माण किया जिसका नाम 'गौ' था। फिर तीसरा नौरु, फिर चौथा– वासधी (बैक्टीरिया), फिर पांचवां– निसाई, फिर छटा– हरोयू (हिरात), फिर सातवां– बेफरेत, फिर आठवां– उर्वा (काबुल), फिर नौवां– खनेन्ता (कन्धार), फिर दसवां– हरन्बैटी, फिर ग्यारहवां– हैतुमत (हिलमण्ड), फिर बारहवां– रघ, फिर तेरहवां– चखर, फिर चौदहवां– बरेन, फिर पन्द्रहवां– 'हप्तहिन्दु', फिर सोलहवां वह स्थान था जहां बिना किसी दीवारकी सुरक्षाके लोग समुद्रोंके पास रहते हैं।

[क्रमशः]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

" ब्रह्म "

लेखक— श्री शोभनाथ पाठक, एम. ए. साहित्यरत्न

ब्रह्म शब्दको सामान्यतः बृह (बढना) या विस्तृत होनासे धातुसे निष्पन्न मानते हैं, जो इतना बडा हो जाय कि सबको परिव्याप्त कर ले उसे ब्रह्म कहते हैं। ऋग्वेदमें यह शब्द स्तोत या मन्त्र और इसके अतिरिक्त भी कुछ और अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। ऑल्डनबर्ग तथा हिलेबैन्ट इसका मूल अर्थ कुछ और ही लगाते है तथा इसकी तुलना प्राचीन आइरिश Britch से करते हैं जब कि जे हर्टल जैसे विद्वान् भी लैटिन भाषाके Flagro से इसकी तुलना करते हैं। कुछ इसका मूल अर्थ अग्नि मानते हैं। ऋग्वेदके कुछ शब्दोंमें जो ब्रह्म शब्द पर प्रयुक्त स्तुति आदि रूपों आदि पर ध्यान रखकर कुछ विद्वानोंने इसकी व्याख्या निम्न रूपमें की है। यथाः—

" The magical force which is derived from the orderly Co-operation of the hymns, the charts and the sacrificial gifts "

(Dasgupta– History of Indian Philosophy)

तथा निम्न शब्द कोषमें इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है यथा—

" The devotion which appears as the eraving and fulness of the soul and strives after gods " St. Petersburgh Dictionary)

तथा Paul Deussen ने लिखा है—

" The will of the man, striving upwards to that which is sacred and divine "

(Paul Deussen. System of the Vedant)

विन्टरनिट्जने (History of Indian Litt. Vol I) का कथन है कि ये सभी परिभाषाएँ ब्रह्मकी भारतीय परिभाषाओंसे पूर्णतः भिन्न हैं। वेदोंमें ब्रह्म शब्द केवल स्तुति व सूक्तके रूपमें आया है। ब्रह्म मूलतः पौराहित्य दर्शनका एक शब्द है अपने इसी लम्बे इतिहासके कारण Macdonell का कथन है कि ' ब्रह्म शब्द भारतीय धार्मिक विचारोंके क्रमिक विकासका सुन्दर निदर्शन है '

' Having a long subsequent history this word is a very epitome at the evolution of religious thoughts in India '

(History of Sanskrit literature)

ब्रह्म सत्, चित् और आनंद है। ब्रह्म नित्य और अविकारी है। वह ज्ञानरूप और चैतन्य है। वह सदा प्रबुद्ध है तथा स्वतः प्रकाशशील है। वह अनन्त और अद्वितीय। तथा वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटीसे रहित, अनन्य निर्विकल्पक, अखंड चैतन्य है। वह निर्गुण और निर्विशेष सत्ता है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मका विवर्त है। जिस प्रकार पानीमें घुला नमक नहीं दिखाई पडता, वैसेही ब्रह्म संसारके कणकणमें व्याप्त है। ब्रह्म सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। यह है भारतीय दर्शनका मत।

ब्रह्मका विचार दो दृष्टियोंसे किया जा सकता है (१) व्यावहारिक दृष्टि– इस दृष्टिकोणसे वह, जगत्का कर्ता, पालक तथा संहारक व सर्वशक्तिमान् है। (२) पारमार्थिक दृष्टि– इस दृष्टिकोणसे वह निर्गुण, अविकारी व निर्लिप्त है। शंकराचार्यने प्रथमको तटस्थलक्षण व दूसरेको स्वरूपलक्षण कहा है। इस प्रकार ब्रह्म सृष्टि रचनाके निमित्त तटस्थ लक्षण धारण करता है और निर्गुणसे सगुण हो जाता है। अन्यथा वह स्वरूपतः निर्लिप्त, एवं असंग व निर्विकार है। केनोपनिषद् ब्रह्मके विषयमें कहता है

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते ॥ १।१५

' अर्थात् जिसे वाणी कह नहीं सकती पर जिसकी शक्तिसे वाणी बोलती है उसे ही ब्रह्म जानो। ' बृहदारण्यक उपनिषद्

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(३८।८) में याज्ञवल्क्यने गार्गीसे कहा है कि ' हे गार्गी वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, न रक्त है, चिकना नहीं है यह छायासे भिन्न है और अंधकारसे पृथक् है, वायु तथा आकाशसे अलग है, असङ्ग है, रस तथा गंधसे विहीन है, न चक्षु उसे ग्रहण कर सकती है, न श्रोत्र, मन, तथा वाणीका वह विषय है, वह तेजसे रहित है, प्राण तथा मुखसे उसका सम्बन्ध नहीं है, वह परिमाण रहित है, न अन्दर है, न बाहर है, वह कुछ नहीं खाता, न उसे कोई खा सकता है '

वाष्कलि ऋषिके द्वारा ब्रह्मके विषयमें पूछे जानेपर ' वाध्व ऋषि ' ने मौनावलम्बन धारण कर ही उनके प्रश्नका उत्तर दिया—

वाष्कलिना च वाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव
ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते ।
सहोवाच अधीहि मो इति । स तूष्णीं बभूव ।
तं ह द्वितीये वा तृतीये वचनं उवाच
ब्रह्म खलु त्वं तु न विज्ञानासि उपशान्तोऽ-
यमात्मा । ' (शांकरभाष्य ३।२।१७)

जीव ईश्वरकी उपासना करता है । ईश्वर जगत्का स्वामी तथा नियन्ता है इसीलिए जीव उसकी उपासना करता है और उसे दया, दाक्षिण्य अगाध करुणा आदि गुणोंसे मंडित करता है यही है ' सगुण ब्रह्म ' या ईश्वर । अनुग्रह ही भगवान्की नित्यलीलाका विलास है । जीवमात्रको निरपेक्ष मुक्ति देनेके लिये ही भगवान्का अवतार होता है ज्यों ही जीव भगवान्के शरणापन्न हो जाता है त्योंही भगवान्की भक्तिका उदय हो जाता है फलस्वरूप प्रभुकी विमल दया धारा उस साधकके ऊपर झरने लगती है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० उप. २।१।१)

तथा—

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृह० उप० ३।९।२८)

उपनिषद् ब्रह्मको ' नेति नेति ' शब्दोंमें अभिहित करता है तो वह निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक पारमार्थिक सत्ता है ।

इस जगत्की उत्पत्ति, लय तथा स्थितिके कारणभूत तत्त्वको ब्रह्म कहते हैं। यथा—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,
यतो जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति
तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म । तैत्ति. उप. ३१

ब्रह्म ही सृष्टिका उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है । जैसे मकडा अपने शरीरसे जाला स्वयं तानता है और फिर उसे समेट लेता है उसी प्रकार समस्त जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होता है यथा—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति;
यथासतः पुरुषात् केशलोमानि
तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥ (मु. उ. १।१।७)

अर्थात् जैसे मकडा जाला निकालता व समेटता है तथा पृथ्वीसे औषधियाँ स्वतः उत्पन्न होती हैं और पुरुष जीवोंके बाल व नाखून बढते हैं वैसे ही सारा संसार उसी ब्रह्मसे उत्पन्न होता है ।

ब्रह्मकी शक्तिमत्ताके बलपर जगत्के पदार्थोंमें शक्तिका परिचय मिलता है। नम्रता ब्रह्मज्ञानकी सहायिका है और अभिमान उस ज्ञानका नितान्त बाधक है । इन्द्रके नम्रता प्रदर्शित करनेपर ही उमा हैमवती (ज्ञानदेवी) ब्रह्मका परिचय देनेके लिये आविर्भूत हुई थी, जिसकी कृपासे इन्द्र देवताओंके अधिपति हुए । ब्रह्मलोक सर्वोच्च है । मरणोपरान्त कर्मानुसार जीव भिन्न भिन्न लोकोंको जाता है इसका उत्तम वर्णन छा. उ. ४।१५ तथा बृ. उ. ६।२ व कौषी. उ. १।२–३ में बडे विस्तारसे किया गया है ।

बृहदा. श्रुति कहती है कि जिस पुरुषके हृदयस्थित सब कामनाएँ छूट जाती हैं वह पुरुष मरणशील होनेपर भी अमृत हो जाता है अर्थात् अमरत्वको प्राप्त कर लेता है तथा ब्रह्मको यहीं प्राप्त कर लेता है यथा—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ४।४।७

ज्ञानके मन्दिरमें चढनेकी विविध सीढियोंको पार करता हुआ जीव भजन, पूजन आदिसे परम शान्तिको प्राप्त करता है तभी साधक विशुद्ध ज्ञान मार्गका अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्मको पा सकता है । जो विश्वकी सर्वश्रेष्ठ शक्ति है ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

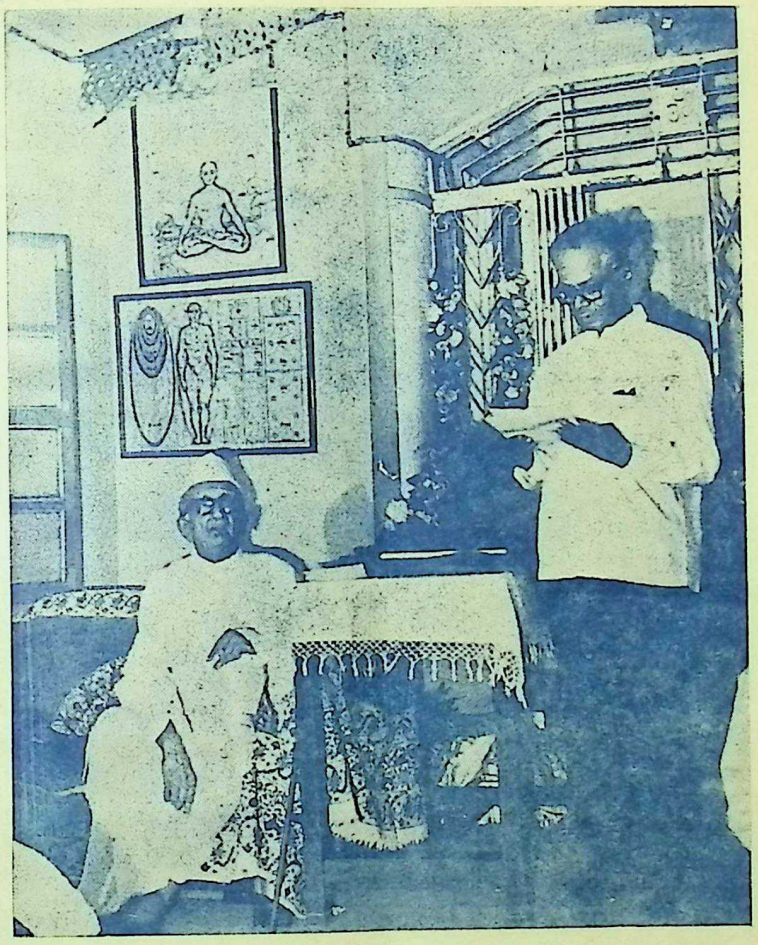

स्वाध्यायमण्डल संस्थाके मंत्री श्री वसन्त श्री. सातवलेकर प्रतिनिधियों एवं अभ्यागतोंका स्वागत करते हुए। बैठे हुए डॉ. पं. श्री. दा. सातवलेकर।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

श्री पंडितजी अपने परिवार एवं पूना वि. विके प्रतिनिधियोंके साथ– (पहिली पंक्ति– दायेंसे बायें)– कु. शमा सातवलेकर, सौ. लतिका वसन्त सातवलेकर, डॉ. सौ. शान्ताबाई सातवलेकर, श्री पंडितजी, सौ. सरस्वतीबाई सातवलेकर (श्री पं. जीकी धर्मपत्नी), कु. सुनीता सातवलेकर, (दूसरी पंक्ति दायेंसे बायें) श्री वसन्त श्री. सातवलेकर, श्री माधव श्री. सातवलेकर, श्री रं. श्री. सरदेशपाण्डे (डे. रजिस्ट्रार पूना वि. वि.), डॉ. टी. जी. माईणकर (पूना वि. वि.), डॉ. सीताराम दा. सातवलेकर, सौ. कुसुम माधव सातवलेकर।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अमिय-कलश

[गीता पर मार्मिक विवेचन]

(लेखक— श्री वेदव्रत शर्मा)

[गताङ्कसे आगे]

क्या जीव स्वतन्त्र-कर्ता नहीं है ?

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ १ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुण-कर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्
कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ ३ ॥ (गीता ३।२७,२८,२९)

और भी

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १ ॥ (यजुर्वेद)

और भी

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ १ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बु पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशत् भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ २ ॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ३ ॥

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् प्रथ० अ० ४, ५, ६,)

भावार्थ— प्रकृतिके गुणोंके द्वारा कार्योंको कर्ता हुआ मनुष्य अहंकार-वश अपनेको कर्ता मानता है। और जो ज्ञानी अर्थात् तत्त्वोंको जानते हैं वह गुण, कर्मके विभागोंको समझ कर गुण गुणीमें रहते हैं; ऐसा सोचकर कर्म-फलमें आसक्त नहीं होते। प्रकृतिके गुणोंको न जानते हुए मूर्ख लोग गुण और कर्मसे आसक्त हो जाते हैं। ऐसे आसक्त लोगोंको विद्वान् भी आसक्तिसे रोक नहीं सकता।

यहाँ 'प्रकृति' शब्दके कई अर्थ अभिप्रेत हैं। प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है। सत, रज और तमकी साम्यावस्था भी प्रकृति है। गुण भी दो प्रकारके होते हैं, एक स्वाभाविक और दूसरे नैमित्तिक। स्वाभाविक गुण जैसे अग्निका उष्णत्व तथा प्रकाश; और नैमित्तिक; जैसे उष्ण-जल गरम लोहा, इनमें उष्णत्व अग्निके संयोग या निमित्तसे उत्पन्न होता है। स्वभाविक गुण गुणीमें सर्वदा विद्यमान रहते हैं, जैसे गुडमें मिठास। परन्तु नैमित्तिक गुण कालान्तरमें क्षीण हो जाते हैं; जैसे वायु कालान्तरमें गर्म तथा सर्द हुआ करता है। प्रकृतिके पांचों तत्त्वोंके अलग अलग गुण हैं। आकाशका गुण शब्द, वायुका स्पर्श, अग्निका रूप, जलका गुण रस और पृथ्वीका गुण गन्ध है। इनकी ग्राहक इन्द्रियाँ—शब्दको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय कान, स्पर्शको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय त्वचा (खाल); रूपको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ आँखें, रसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय जिह्वा और गन्धको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय नासिका है। मन, बुद्धि, चित्त और अंहकार अन्तःकरण हैं। पांच-ज्ञान इन्द्रियाँ बाह्य-करण हैं। जीव इन दोनों करणों (साधनों) से ज्ञानकी उपलब्धि करता है। जीव स्वभावतः अल्पज्ञ और यत्नवान् है। ये दो गुण बाह्य-करणों और अन्तःकरणोंमें नहीं घटते। बाह्य तथा अन्तःकरण जीवके ही करण हैं। जैसे तलवारसे वीर शत्रुओंका नाश तथा निर्बलोंकी रक्षा करता है। वीर कर्मोंका उत्तरदायी होता है तलवार नहीं। इसी प्रकार जीव इन दोनों उपकरणोंका उपयोग-कर्ता है वही इन कर्मोंके फलोंसे प्रभा-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वित होता है। तलवार न तो उत्तरदायी होती है और न ही हार-जीतसे प्रभावित ही होती है।

यहाँ पर उपनिषदोंके माध्यमसे भी विचार करना चाहिए। उपनिषदें तीन लोकोंके द्वारा ज्ञान–बोध कराती हैं– द्युलोक या सौर मण्डल या ब्रह्माण्ड, दूसरा पृथ्वीलोक, तीसरा पिण्ड-लोक। इनमें ब्रह्माण्ड और भूलोकका नियामक परमात्मा है। पिण्ड अर्थात् शरीरका नियामक जीव है परन्तु सर्वतन्त्र स्व-तन्त्र नहीं है। ईश्वरके न्यायानुकूल जीव शरीरका स्वतंत्र नियामक है। इन तीनों लोकोंके कर्मोंको ही गीताने कर्म, अकर्म और विकर्म कहा है। 'कर्म–अहंकार तथा बुद्धि द्वारा जो भी शुभ एवं अशुभ कर्म अपने निमित्त किये जाते हैं वे कर्म उसी कर्ताके कहलाते हैं, ऐसे कर्म कर्ताको सुख दुःख फल देते हैं।

अकर्म–अहंकार तथा बुद्धि द्वारा ज्ञाततः हम जो भी शुभ या अशुभ कर्म अपने निमित्त नहीं करते, वरन् औरोंके निमित्त करते हैं, अथवा अज्ञाततः बेहोशी, पागलपनमें, स्वप्न, मूर्छा इत्यादिमें करते हैं, वे अकर्म कहलाते हैं। अकर्म वे कर्म भी कहे जाते हैं जो पराधीनतामें या नौकरी आदिमें स्वामीके निमित्त करने पडते हैं। ऐसे कर्मोंका कुछ फल कर्ताको नहीं बाधता। विकर्म– वे विशेष कर्म हैं जो न अपने और न औरों-के निमित्त किये जाते हैं; वरन् अज्ञाततः शरीरके भीतर होते रहते हैं तथा इन पर हमारा कुछ भी वश नहीं रहता। न इन-में अहंकार और बुद्धिका ही हाथ होता है, जैसे पलक भांजना पसीना आना, हृदयकी गति, रक्त–संचालन, भोजन–पाचन आदि। उक्त तीनों प्रकारके कर्मोंको पिण्ड, भू–लोक और ब्रह्माण्डमें देखना और विचारना चाहिए। जीवका भी कर्म करना स्वाभाविक गुण है। ज्ञान और कर्मका बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु जीव अल्पज्ञ है।

अल्पज्ञ अपेक्षाकृत ही कहा जा सकता है। क्योंकि जीव अनादि और संख्यामें अनन्त हैं। जीव विना कर्म किये रह ही नहीं सकता। मनुष्यसे लेकर सभी प्राणी, कीट, पतङ्ग कर्ममें रत हैं। कर्मके (जीवके कर्म भेदसे) तीन भेद होते हैं जिन्हें, प्रारब्ध, क्रियमाण और संचित कहते हैं। ये सब अन्योन्याश्रित होते हैं। प्रारब्धके अनुसार क्रियमाण और क्रियमाण ही आगे चल कर संचित हो जाता है और जन्मा-न्तरमें संचित ही प्रारब्ध या भाग्यका रूप धारण कर लेता है। जीव अनादि हैं इनके कर्मचक्र भी अनादि हैं। कौन प्रथम और कौन बादमें हुआ इसका निर्वचन करना असाध्य है।

जीव क्यों कर्म करता है ? जीव जिन्दा है; इसका सबूत कर्म ही है। जहाँ जीवत्व है वहाँ वहाँ कर्मत्व है। जैसे सभी जीवित प्राणी। परन्तु जीवत्वका ज्ञान या पहिचान कर्मत्वके द्वारा ही होता है। कर्म ही जीवका जीवन है। इसमें विराम निद्रा या प्रलयावस्थामें ही संभव है। परन्तु कालान्तरमें कर्मका चक्र चलने लगता है। हाँ तो, जीवका कर्म करना स्वाभाविक गुण या धर्म है। गुलाबके फूलमें आकर्षण (हिरण्मयता) है। जहाँ आकर्षण है वहीं मोहकता भी है। मोहकतासे आवृत एक सत् तत्त्व भी है। जिस सत् तत्त्वको जानना और प्राप्त करना जीवका अन्तिम ध्येय है। उस ध्येयतक पहुंचनेके लिये ज्ञान और कर्म ही प्रमुख साधन हैं। अतः संसारके आकर्षणमें न फंसकर तदन्तर्गत सत् तत्त्वको जानना और प्राप्त करना चाहिए। वही परमात्मतत्त्व सबका नियन्ता है। ब्रह्माण्ड और भूलोकका नियन्ता परमतत्त्व है। और इस पिण्डका नियन्ता स्वतत्त्व या जीवात्मा है। ये सब अपने अपने स्वभाव या प्रकृतिसे समस्त कार्य–कलापका सञ्चालन करते हैं।

उक्त विषयको यदि उपनिषद्से समझें तो भी बडा सुन्दर हो। ब्रह्माण्ड या विश्वचक्र भी विश्वके रूपरूपी पाशमें बंधा हुआ है। पहिया आगे, पीछे, इधर, उधर इन तीन मार्गोंका भेदन करता है। ब्रह्मचक्र भी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन तीनों मार्गोंका भेदन करता है। यह ब्रह्म–चक्र शुभ तथा अशुभ इन दो निमित्तोंसे चल रहा है। परन्तु असलमें इस चक्रके निरन्तर चलनेका कारण केवल एक है, और वह कारण है मोह। इसी प्रकार पिण्ड अर्थात् मानव शरीर भी है। जैसे नदीका जल कई स्रोतोंसे फूटता है, वैसे शरीररूपी नदीकी पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ पांच सोते हैं; इनमें ज्ञानरूपी जल फूटकर निकल रहा है। जैसे नदीका उद्गम स्थान पहाड होता है उसीके बडे छोटे होनेसे नदी उग्र तथा वक्र हो जाती है, वैसे ही पांचों इन्द्रियोंके उत्पत्ति-स्थान पंचमहाभूत हैं। जिनके कारण यह देह-नदी उग्र है, वेगवाली है, वक्र है, टेढेमेढे मार्गोंमें चलती है। जैसे नदीमें तरंगें उठा करती हैं, वैसे शरीररूपी नदीमें पांचों प्राण ही तरंगें हैं। जैसे नदी अपने मूलसे प्रारम्भ होती है, वैसे इस शरीररूपी नदीका आदिमूल बुद्धि है। जैसे

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नदीमें आवर्त होते हैं, भंवर होते हैं वैसे ही शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्ध इस नदीके पांच भंवर हैं, जिनमें जीवात्मा डूबने लगता है। जैसे नदीमें कभी कभी प्रवाह उमड आता है; वैसे गर्व, जन्म, जरा, व्याधि और मरण ये पांचों दुःखोंके प्रवाह हैं। जैसे नदीके तैरनेके पचासों भेद होते हैं, वैसे इस शरीर रूपी नदीको तैरनेके भी पचासों भेद हैं। जैसे नदीके जोड होते हैं, वैसे शरीररूपी नदीके भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश– ये पांच जोड हैं।

इस ब्रह्मचक्रमें इस जीवात्माको कोई घुमा रहा है। अपनेको इस चक्रके प्रेरकसे पृथक् जानकर जो उसकी प्रीतिका पात्र बन जाता है वह अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है। चक्रको चलता देखकर जैसे उसपर बैठा हंस (जीव) अपनेको ही उस चक्रका चलानेवाला समझ बैठता है, वैसे इस ब्रह्म–चक्र तथा शरीरको चलता देखकर जीवात्मा अपनेको इसका चलानेवाला समझने लगता है। पर जो अपनेको नहीं; अपितु ईश्वरको प्रेरक समझ कर उसकी प्रीतिमें लग जाता है वह अमर हो जाता है।

जीव कर्म–चक्र पर अधिष्ठित है। कर्म करना स्वाभाविक या प्राकृतिक है। प्राकृतिक–कार्य यानी स्वाभाविक कार्य अवश्य ही होंगे, अतः उनका निग्रह नहीं किया जा सकता। जीव इन्द्रियोंकी सहायतासे अवश्य कर्म करेगा, इस कार्यमें रुकावट नहीं हो सकती। परन्तु संयम तो किया ही जा सकता है। इन्द्रिय और उनके विषयोंमें राग और द्वेष मौजूद रहते हैं। यथा जीव पुत्र देखकर राग और सर्पको देखकर द्वेष करता है।

लोग भ्रम–वश 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' का गलत अर्थ समझ कर अपनेको विवश–कर्ता मानकर कर्मके उत्तरदायित्वसे मुख मोड लेते हैं। चोर चोरी क्यों करता है? प्रकृति कराती है। परन्तु संसारको सुख दुःख की व्यवस्था प्रकृतिके उत्तरदायित्वको पुष्ट नहीं करती; क्योंकि सुख दुःखका भोक्ता जीव है, प्रकृति नहीं। तो प्रकृतिका अर्थ हुआ जीवका अपना स्वभाव या संस्कार।

क्या गीताकी वर्णव्यवस्था सम्प्रति अव्यवहारिक है?

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ ३।३५

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण–कर्म–विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ ४।१३
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत॥
यजुर्वेद ३१।३१

अर्जुन युद्ध–क्षेत्रमें विषाद कर रहे थे। अतः ज्ञानके द्वारा उनके संशयोंका निवारण हुआ। परन्तु यदि अर्जुन क्षात्र-धर्मको छोडकर वैराग्य धारण करके तप आदिमें अपना कल्याण समझ बैठते तो कृष्ण उनको सचेत करते हैं कि तुम क्षात्र-धर्मको छोडकर ब्राह्मण–धर्म नहीं ग्रहण कर सकते। क्यों? क्योंकि वर्णव्यवस्थानुसार अपना अनुत्तम भी धर्म दूसरे वर्णके धर्मसे अधिक कल्याण–प्रद होता है। अपने धर्मका पालन करते हुये मर जाना अच्छा है। दूसरे वर्ण–वाला धर्म भयावह होता है।

आगे चल कर चौथे अध्यायमें भगवान् पुनः कहते हैं कि इन चारों वर्णोंकी व्यवस्था गुण–कर्म स्वभावके अनुसार मैंने स्वयं की है। इसका विधान करनेवाला ईश्वर है परन्तु इस व्यवस्थाको कार्यान्वित करानेवाला राजा अर्थात् मैं हूँ। महाभारतमें जगह जगह पर इस बातका स्मरण दिलाया गया है, कि राजाका प्रधान कर्तव्य है कि वह वर्ण–व्यवस्थाको अपने राज्यमें कार्यान्वित करे। उक्त गीताके श्लोक यजुर्वेदके उक्त मंत्रकी व्याख्या ही करते हैं। ब्राह्मण राष्ट्रका मुख है। राष्ट्रमें ब्राह्मण–धर्म प्रमुख है। क्षात्र–धर्म हाथकी तरह राष्ट्रकी रक्षा और सुव्यवस्था करता है, वैश्य–धर्म पेटकी तरह सकल राष्ट्रका भरण–पोषण करता है, इसी प्रकार शूद्र–धर्म राष्ट्रके तीनों वर्णोंकी सेवाका भार धारण करता है। परन्तु इस व्यवस्थामें सम्प्रति एक महान् दोष आ गया है। लोग वर्ण–व्यवस्थाको गुण–कर्म–स्वभावसे न मान कर जन्मना मान बैठे हैं। वर्ण–व्यवस्थाको जाति–व्यवस्था मान बैठे हैं। महर्षि दयानन्दने इस दोषको सबके समक्ष रखा और जनताको बताया कि यह व्यवस्था जन्मना नहीं अपितु गुण–कर्म–स्वभावके अनुसार होनी चाहिए।

उपर्युक्त बातोंका यही निष्कर्ष है कि अर्जुन गुण–कर्म और स्वभावसे क्षत्रिय थे। इनका युद्ध करना ही कल्याण–प्रद धर्म है। ब्राह्मण–धर्म श्रेष्ठ होते हुए भी अच्छा नहीं है क्योंकि अर्जुनका गुण–कर्म–स्वभाव इसके अनुकूल नहीं था।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एक भ्रम

इस वर्ण–व्यवस्थापर जो अव्यवहारिकताका सम्प्रति आक्षेप किया जा रहा है, इसके दो प्रधान कारण हैं, एक तो वर्ण व्यवस्था गुण–कर्मस्वभावानुसार न मान कर जन्मना मानना; दूसरा कारण 'परधर्मो भयावहः' इस वाक्यकी जन्मना वर्ण–व्यवस्था मानते हुये व्याख्या करना ही है। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि गुरुकुलमें आचार्य–द्वारा वर्ण–व्यवस्थामें आकर यानी स्नातक होते समय छात्र जिस वर्णमें स्थापित किया जाता है उस व्यवस्थाको मोह वश तोडकर अन्य वर्णके कर्तव्यको स्वीकार करना भयावह है। अब भी योग्यताके अनुसार ही काम मिलता है। परन्तु गुण--कर्म-स्वभावके बदल जानेपर वर्ण व्यवस्था बदली भी जा सकती है। यहाँ अर्जुनका झुकाव संन्यासकी तरफ हो रहा था इस लिए भगवान्‌ने कहा तू क्षत्रिय है अतः तेरे लिये ब्राह्म–धर्म भयावह है; क्योंकि तेरा स्वभाव ऐसा नहीं है।

अन्तमें अर्जुन भगवान्‌से प्रश्न करते हैं कि मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पाप कर्म कर बैठता है? वास्तवमें यह प्रश्न शाश्वत है। आज भी बहुधा यह प्रश्न किया जाता है। इस प्रश्नका समाधान करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि काम और क्रोध ये महाशन अर्थात् बहुत खानेवाले हैं। इन्हींसे प्रभावित होकर मनुष्य पाप-कर्म करता है। भगवान्‌ने लोभका निराकरण दूसरे अध्यायमें ही कर दिया था अब काम और क्रोधका भी निराकरण करते हैं। कृष्ण भगवान् कहते हैं कि काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं। ये काम तथा क्रोध मनुष्यके ज्ञानको ढक लेते हैं। जिस प्रकार धुयेंसे आग, धूलसे दर्पण और झिल्लीसे गर्भ आदि ढके रहते हैं, उसी प्रकार जीवात्माके ज्ञान–प्रकाशको काम और क्रोध आवृत कर लेते हैं। इन दोनोंको कृष्ण भगवान्‌ने नित्यके शत्रु माना है। फैली हुई कामाग्निके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अधिष्ठान कहे गये हैं। इन्हींपर आश्रित होकर ज्ञानको नष्ट करती हुई कामाग्नि आत्मा जीवको मोह लेती है।

इसलिए तुम इन्द्रियोंको प्रथम संयममें रक्खो तब इस ज्ञान--विज्ञानके नाशक काम-क्रोधको नष्ट कर सकते हो। क्योंकि तुम (जीव) चैतन्य हो इसलिये तुम अचेतन इन्द्रियाँ मन एवं बुद्धिपर अपना अधिकार जमा सकते हो। इसलिये अपनेको श्रेष्ठ समझते हुए अपनेको संयमित करके कामरूपी महान् तथा दुर्जेय शत्रुको जीत सकते हो और पापकर्मोंसे भी बच सकोगे, अन्यथा नहीं।

वेदों एवं उपनिषदोंने तथा श्री गांधीजीने काम तथा क्रोध को जीतनेके लिए तप तथा ब्रह्मचर्यका विधान किया है। बिना ब्रह्मचर्य और तपके ये शत्रु नहीं जीते जा सकते।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
(अथर्व ११।५।१७)

ब्रह्मचर्यके द्वारा जीवात्मा राष्ट्र–रूपी शरीरकी रक्षा करता है क्योंकि ब्रह्मचर्यके कारण मानव–शरीर काम–क्रोधके द्वारा नहीं जीता जा सकता। वेदने इसी शरीरको अयोध्या बतलाया है। अयोध्या देवताओंकी नगरी है। और इस अयोध्याको ब्रह्मचर्यके द्वारा ही अजेय रखा जा सकता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरता।
(अथर्ववेद ११।५।१९)

इन्द्रने अर्थात् इन्द्रियोंको जीतनेवाले जीवने तपस्या और ब्रह्मचर्यके द्वारा मृत्युको मार गिराया। ब्रह्मचर्यके द्वारा ही इन्द्रिय–रूपी देवोंने सुख प्राप्त किया।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

उपनिषद्‌के इस पद्यके द्वारा ब्रह्मचर्यकी महानता प्रतिपादित की गई है। ब्रह्मचर्यका अर्थ इन्द्रिय–संयम ही है। इन्द्रियोंके संयमके लिए ब्रह्मचर्य व्रत तथा तपस्याकी नितान्त आवश्यकता है।

इस प्रकार धर्मका सम्पादन करना ही कर्म–योग है। परसेवा तथा परोपकार ही यज्ञके दो महान् रूप हैं। सेवा और परोपकार निःस्वार्थ भावसे ही करना चाहिए। यही इस अध्यायका परम विषय है। इस प्रकार यहीं पर यह अध्याय भी समाप्त हो जाता है।

× × ×

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चतुर्थ अध्याय

ज्ञान, कर्म, संन्यासयोग

भगवान् कृष्णने प्रथम दो प्रकारकी निष्ठाओंका उल्लेख किया। जिन्हें ज्ञान-योग और कर्म-योगके नामसे अभिव्यक्त किया है। ज्ञान-योगको सांख्य-योग भी कहते हैं। कर्म-योगको योग या मोक्ष-प्राप्तिका साधन भी कह सकते हैं। ज्ञान और कर्म बहुत ही परस्परापेक्षी हैं। ज्ञान विना आचरण किये परोपदेशार्थ ही रह जाता है और कर्म विना ज्ञानके समुचित निष्पन्न नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञान-पूर्वके कर्म भी संन्यासीके लिये लोकोपकारार्थ ईशार्पण होता हुआ त्यागकी भावनासे संन्यास ही हो जाता है।

श्री शंकराचार्यके आगे और पीछेके ज्ञान-मार्गियोंने कर्मको निकृष्ट समझा; अतः उस समयके लोग अकर्मण्य हो चुके थे। संभवतः महाभारतके कुछ वर्ष पूर्व भी यह स्थिति रही हो। परन्तु गीताका संन्यास अकर्मण्यता नहीं है यह तो निष्काम-भावनाकी सुन्दरतम स्थिति है 'परोपकारार्थमिदं शरीरं' की कल्याण-प्रद भावना है। हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना, जनताके ऊपर व्यर्थका बोझ हो जाना संन्यास नहीं है इसे तो आलस्य और प्रमाद ही कहना चाहिए।

योगकी विद्या अनादि-कालसे वेदों द्वारा चली आई है। परन्तु कभी कभी सरस्वती नदीकी तरह यह विद्या लुप्त भी हो जाती है। योग अर्थात् मुक्तिका उपाय विवस्वत् राजाको प्राप्त हुआ। इन्होंने यह विद्या मनुको सिखलाई, मनुने इक्ष्वाकुको पढाया। इस प्रकार संसारमें इस विद्याका प्रचलन हुआ। कृष्णकी इस बातको सुन कर अर्जुनको शंका हुई कि आपके और विवस्वतके जन्म-कालमें महान् अन्तर है आपने उनको योग-विद्या कैसे सिखलाई? भगवान्‌ने कहा कि आत्मा अनादि है; अतः हमारे और तुम्हारे अनन्त जन्म हो चुके हैं। योग-युक्त होनेके कारण मैं अपने जन्मोंको जानता हूँ परन्तु तुम योग नहीं जानते अतः तुम्हें उनका ज्ञान नहीं है। 'परोपकारार्थं सतां विभूतयः' इस अपने सहज स्वभाव (प्रकृति) के अनुसार मुक्त होता हुआ भी मैं परोपकार-निष्ठ बुद्धिको धारण करके समय समय पर अपनी इच्छासे, न कि कर्म-बन्धसे, शरीर धारण करता हूँ। परोपकारकी भावना ही मुझे संसारमें मुक्तिसे वापस लाती है। क्योंकि धर्मकी संस्थापना और सज्जनोंकी रक्षा करना मेरा व्रत है। इस व्यवस्थाको व्यवस्थापित करनेके लिये हमें दुष्टोंका नाश भी करना पडता है। इस प्रकार मेरा जन्म और कर्म सांसारिक पुरुषोंसे दिव्य अर्थात् अलौकिक है।

इस संसारमें बहुतसे लोग ईश्वरको अपनेमें तथा संसारमें अन्तर्यामी समझ कर क्रोध और भयसे रहित होते हुए ज्ञान और तपके अनुष्ठानसे पवित्र होकर मेरे सत्कर्मोंके अनुसरण करनेवाले हो गये। परन्तु कर्मके मर्मको समझना बडा ही कठिन है। कर्म और अकर्मके निर्णयमें विद्वान् लोग भी भूल कर बैठते हैं।

कर्म, विकर्म और अकर्म

यज्ञ ही कर्म है। ईश्वर ही यज्ञ-देव होता है एवं ऋत्विक् है। ऐसा ही ऋग्वेदका 'अग्निमीळे' मंत्र कहता है। यजुर्वेदका 'कुर्वन्नेवेह' मंत्र इसी यज्ञको कर्मके नामसे अवगत कराता है। शतपथ ब्राह्मण यज्ञको श्रेष्ठतम कर्म कहता है।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
(ईशोपनिषद्)

गीताके द्वितीय अध्यायमें मोहजनित अज्ञानका निवारण किया गया। मोहके बाद लोभका नम्बर आता है। यजुर्वेदके ४०।१ का मंत्र 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' धन पर मत ललचाओ क्योंकि संसारमें धन किसीका नहीं होता। उक्त मंत्र निष्काम कर्मका उपदेश देता है। इसी आधार पर गीता भी कर्मके अर्थात् तीन यज्ञ विधानके तीन भेद बताती है। इन्हींको कर्म, विकर्म और अकर्मके नामसे पुकारा गया है।

कर्मको विकर्म द्वारा अकर्ममें बदल देना ही योगी और सज्जनका परम ध्येय होता है। कर्मका अर्थ स्वधर्माचरण ही है। श्री विनोबाजीके शब्दोंमें 'चित्तके संशोधनके लिये जो जो कर्म किये जायें, उन्हें गीता विकर्म कहती है। चित्तकी शुद्धतासे मन, वचन तथा कर्ममें समन्वय स्थापित होता है। अन्यथा मुंहमें राम, बगलमें छुरीवाली बात चरितार्थ होती है। कर्म पाखण्डका रूप धारण कर लेता है। मनु महाराज इसी बातको इस तरह कहते हैं कि विद्वान्‌को चाहिए कि यमोंका लगातार सेवन करें केवल नियमोंका ही नहीं, क्योंकि केवल

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नियमोंका सेवन करनेवाला पाखण्डीका रूप धारण कर लेता है और पतित हो जाता है।

श्री विनोबाजीने अकर्मको सहज-धर्म भी कहा है। निरन्तर अभ्यासके द्वारा कर्म ही अकर्म हो जाता है। यथा प्रारम्भमें साइकिल चलाना कितना कठिन है। परन्तु निरंतर अभ्यासके बाद लोग हाथसे हैंडिल छोडकर बात करते हुए साइकिल चलाते हैं उनको पैरके संचालनका ध्यान भी नहीं रहता। यह सञ्चालन अकर्मका रूप धारण कर लेता है। बच्चा आगे चल कर दौडने लगता है जवान होने पर पैरकी गति अकर्मका रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार परोपकारी योगी परोपकार करते-करते अपने धर्मको सहजधर्म अर्थात् अकर्मका रूप दे देता है।

आर्यमुनिने शास्त्रविहित (विधिपूर्व किये गये) कर्मको कर्मको कर्म कहा है। शास्त्राविहित कर्मको विकर्म कहा है। जिन कर्मोंका शास्त्रोंने विधिनिषेध नहीं किया उन्हें अकर्म कहा है। श्री पूज्यपाद तिलक महोदयने भी कर्म और विकर्मको आर्यमुनिके अनुसार ही माना है परन्तु अकर्ममें इनका आर्यमुनिजीसे मतभेद है। अकर्मको श्री विनोबाजीकी भांति सहजधर्म ही माना है उनका कहना है कि जिन कर्मोंके करनेसे मनुष्य बन्धनको नहीं प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष-लाभ करता है उन कर्मोंको अकर्म कहते हैं।

परन्तु दुःखके साथ यह स्वीकार करना पडता है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्तको माननेवाले आधुनिक संन्यासी अकर्मका अर्थ हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना ही मानते हैं। वास्तवमें गीता निष्काम कर्मको अकर्म मानती है क्योंकि संन्यासी अहङ्कारकी भावनासे विमुक्त होकर परोपकार आदि कार्योंको यन्त्रवत् ही करता है। केवल ईशादेश ही उसकी दृष्टिमें रहता है।

श्री एन. पी. निगम फैजाबादने अपनी सरल गीतामें कर्म विकर्म और अकर्मकी वैज्ञानिक व्याख्या की है जो कि उल्लेखनीय है।

'कर्म'

अहंकार तथा बुद्धि द्वारा जो भी शुभ अशुभ कर्म अपने निमित्त (अर्थात् स्वार्थसे) किये जाते हैं वे कर्म उसी कर्ताके कहलाते हैं। ऐसे कर्म कर्ताको सुखःदुःख-फल देते हैं।

'अकर्म'

अहंकार तथा बुद्धि द्वारा ज्ञानतः हम जो शुभ अशुभ कर्म स्वार्थ अर्थात् अपने निमित्त नहीं करते, बल्कि औरोंके निमित्त अथवा अज्ञाततः बेहोशी, स्वप्न, मूर्छा इत्यादिमें करते हैं, उसे अकर्म कहते हैं। जैसे स्वामीके निमित्त किये गये सेवकके कर्म। ऐसे कर्मोंका कुछ भी फल कर्ताको नहीं बांधता।

'विकर्म'

वे विशेष कर्म विकर्म कहलाते हैं जो न अपने और न औरोंके निमित्त किये जाते हैं, वरन् अज्ञानतः देहके भीतर होते रहते हैं तथा इन पर हमारा कुछ भी वश नहीं रहता, न इनमें अहंकार तथा बुद्धिका ही कोई हाथ होता है, जैसे पलक-भांजना, पसीना आना, हृदयकी गति, रक्तका संचालन, भोजन, पाचन आदि। मनो-विज्ञानमें इनको (Reflex Action) रिफ्लेक्स एकशन्स कहते हैं। देहमें ९९.९ प्रतिशत यही विकर्मवाले कर्म होते रहते हैं। इस विचारसे यहाँ 'वि' उपसर्गका विशेष कर्म अर्थ है दूषित-कर्म नहीं।

जब हम कर्म, विकर्म और अकर्मकी इस प्रकार विवेचना कर लेते हैं तो हम कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म समझ जाते हैं। अन्यथा हमारे लिये गीताका अठारहवाँ श्लोक दुर्बोध हो जाता है। शास्त्रविहित कर्म विकर्मके द्वारा अकर्म अर्थात् सहज-धर्म हो जाता है। अन्यथा—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

जो सज्जन होते हैं उनके मन, वचन और कर्ममें एकरूपता होती है परन्तु दुरात्माओंके मन, वचन और कर्ममें एकरूपता नहीं रहती।

कर्मोद्भव

मन इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्धादिको ग्रहण करके उनकी प्राप्तिके लिये संकल्प और विकल्प करता है। बुद्धि कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय करती है। आत्मा (जीव) उस कार्यके लिये कृत-संकल्प हो जाता है। संकल्प दो प्रकारके होते हैं, प्रथम काम-संकल्प दूसरा शिवसंकल्प। कामका अर्थ है वासनाओंसे युक्त मानसिक इच्छायें। और शिवका

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थ है परमार्थ अर्थात् यज्ञ। यज्ञ ही शिव है। बुद्धिमान् काम-संकल्पकी पूर्त्ति केवल गृहस्थाश्रममें संयमसे करता है। परन्तु ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासमें शिव-संकल्पवाला ही रहता है। गृहस्थाश्रमका कामसंकल्प शिवसंकल्पसे परिपूत रहता है। यजुर्वेदके चौंतीसवें अध्यायके प्रथम मंत्रसे छठे मंत्रतक 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' हमारा मन शिव-संकल्पवाला होनेकी प्रार्थना की गई है। अभ्युदय धर्मका प्रथम अङ्ग है जो कि निःश्रेयस्का साधक होता है। अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंको शिव-संकल्प प्रधान बनाना चाहिए।

इस प्रकार संन्यास मार्गके पथिक योगी तथा विद्वान् जन कर्मको विकर्म द्वारा अकर्म (सहज-धर्म) में परिणत करते हैं। इस प्रकार परमार्थ करते हुये परमार्थी जन हानि-लाभके द्वन्द्वोंसे निर्मुक्त होकर 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' की भावनाको चरितार्थ करते हैं। वे पाप-पुण्यके कर्म-विपाकके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होते हैं, क्योंकि परमार्थके मार्गमें किया गया हिताहित समानताकी कोटिमें आ जाता है। परन्तु परमार्थ व्यक्तिकी परिधिसे परे होकर समष्टिके लिये ही होना चाहिए।

शिव-संकल्पवाला अपना यज्ञ-कर्म (अकर्म) परमात्माको सौंप देता है। सुकर्मरूपी हवि विकर्म द्वारा ज्ञानकी अग्निमें आहुत कर देता है। इस प्रकार यज्ञ-कर्मके द्वारा समाधिस्थपुरुष परमात्माको प्राप्त करता है। कर्ता होता हुआ भी अकर्ता ही रहता है। इस प्रकार कर्म करनेवाला संन्यासी या कर्मयोगी शरीरसे कर्म करता हुआ पापका भागी नहीं होता। जिसने अपना तन, मन, धन शिवसंकल्पवाला कर दिया है उसके द्वारा किया गया यज्ञ ईश्वरार्पण होता है और वह यज्ञ-ब्रह्मज्ञाग्निमें आहुत होकर समग्र--प्राणि--वर्गके कल्याणके लिये ही होता है। इस प्रकार यज्ञ--कर्ता परमपुरुषके धामको प्राप्त करता है। कर्ताका यदि मन पवित्र है तो वह किसीके कल्याणमें रत रहता हुआ अज्ञतावश कुछ उसका अहित भी कर बैठे तो भी वह पापी नहीं होता। उदाहरणार्थ--न्यायाधीश यदि अभियुक्तको न्याय और उसके हितकी भावनासे उसे कुछ दण्ड भी दता है तो न्यायाधीश पापको भागी नहीं होता।

यज्ञ और उसके भेद

यज्ञका वर्णन किया जा चुका है। परन्तु प्रसंगवश पुनः इसके भेदोंका उल्लेख करना आवश्यक है। दैनिक यज्ञ पांच हैं; ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, अतिथि-यज्ञ और बलि वैश्वदेव-यज्ञ। इसके अतिरिक्त भी पर्वों और संस्कारोंमें यज्ञ किये जाते हैं, गर्भाधानसे अन्त्येष्टि तक मनुष्यके सारे शुभ कार्य यज्ञसे प्रारम्भ होते हैं। कुछ यज्ञ राजाओंके लिये ही निश्चित हैं, ये गोमेध, अश्वमेध तथा राजसूय-यज्ञ आदि हैं। प्रथमके पांचों यज्ञ गृहस्थ द्विजातियोंके लिये अनिवार्य हैं। ब्रह्म-यज्ञ वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम तक साथ जाता है। संसारके समस्त कार्य.कलाप यज्ञमें ही समविष्ट हैं। यज्ञ शब्दका अर्थ देव-पूजा, संगति-करण और दान है। संगति-करणमें भौतिकविज्ञान और शिल्प भी सम्मिलित है। ब्रह्म-यज्ञके अतिरिक्त सभी यज्ञ द्रव्योंके द्वारा ही निष्पन्न होते हैं। गीता भी द्रव्य-यज्ञ, तपो-यज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ तथा ज्ञान-यज्ञ यज्ञोंके भेद मानती है। परन्तु उक्त यज्ञ पांचों यज्ञोंमें आ जाते हैं। तपो-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ ये सभी ब्रह्म-यज्ञके अन्तर्गत हैं। सभी यज्ञोंके पूर्व ब्रह्मचर्य अर्थात् संयम, तप (कष्ट-सहन) और योगका अनुष्ठान करना आवश्यक होता है। गृहस्थ भी एक-पत्नी-व्रत तथा ऋतुगामी होता हुआ संयमी और ब्रह्मचारी होता है।

गीतामें प्रणायाम, तप, स्वाध्याय, ध्यान आदिको भी अलग अलग यज्ञ माना है। यज्ञ करनेके पश्चात् जो शेष भोजन करते है वे अमृत खाते है। वे यज्ञके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। अयजन-शीलके लिये यह संसार नहीं है। जो यज्ञ नहीं करते, उनको इस संसारमें रहनेका अधिकार नहीं हैं। वे दस्यु है, वे हन्तव्य है। यज्ञमें ही प्राणि-मात्रका हित निहित है। यज्ञ सम्प्रदायकी सीमासे परे है। यद्यपि सम्प्रति यज्ञ हिन्दुओंका ही माना जाता है। परन्तु यज्ञका विकृत रूप किसी न किसी रूपमें सभी सम्प्रदायोंमें पाया जाता है चाहे पूर्वके सम्प्रदाय हों, चाहे पश्चिमके। इसके विवेचनमें एक अलग ग्रन्थ लिखा जा सकता है। यज्ञ ही विष्णु-चक्र है जो कि समस्त संसारको चला रहा है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेदमें यज्ञकी महिमा

ओं आयुर्यज्ञेन कल्पताम् प्राणो यज्ञेन कल्पताम् चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम् श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम् वाग्यज्ञेन कल्पताम् मनोयज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम् ब्रह्म यज्ञेन कल्पताम् ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वर्यज्ञेन कल्पताम् पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम् यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवा आगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा। (यजुर्वेद १८।२९)

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥
(अथर्ववेद ७। ७६। ५)

उक्त मंत्रोंका भाव सुस्पष्ट है, ये मंत्र गीताकी यज्ञ-प्रशंसाको पुष्ट करते हैं। अकर्मके भावसे अर्थात् ज्ञानके द्वारा जो कार्य किये जाते हैं उनमें सभी पाप नष्ट हो जाते हैं क्योंकि ज्ञानसे बढकर संसारमें कोई पवित्र चीज नहीं है। परन्तु कर्मके साथ श्रद्धाका होना नितान्त आवश्यक है, जैसे बिना नमकके भोजन बेस्वाद होता है, उसी प्रकार बिना श्रद्धाके किया हुआ यज्ञ व्यर्थ होता है। इस प्रकार श्रद्धावान् संयमी, कर्मयोगी ही शान्तिको प्राप्त करनेवाला होता है।

अश्रद्धावान् तथा संशयवाला व्यक्ति इस संसारमें जीवित नहीं रह सकता। इसलिये हृदयस्थ अश्रद्धा और संशयको ज्ञानकी तलवारसे निर्मूल कर देना चाहिए।

वेदमें श्रद्धाका महत्त्व

श्रत्का अर्थ सत्य, धा का अर्थ धारण करना; अर्थात् सत्यके साथ मन, वचन तथा कर्मसे किसीके आदर्शसे प्रभावित होकर उस पर भक्ति तथा निष्ठावान होना श्रद्धा कहलाती है।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥
(ऋग्वेद १०।१५१।२)

इस प्रकार ऋग्वेदमें एक श्रद्धासूक्त ही है। उक्त मंत्रका आशय है कि श्रद्धासे अग्नि प्रज्वलित होती है। श्रद्धापूर्वक हविसे हवन किया जाता है। ऐश्वर्यके शिखर श्रद्धाको प्रशंसाके साथ मानते हैं।

इस प्रकार गीता और वेद ज्ञान-कर्म-संन्यास योगको एक स्वरसे प्रतिपादित करते हैं। परन्तु कुछ नवीन संन्यासियोंने संन्यासका अर्थ कर्म-त्याग मानकर 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के प्रलापसे जनताको कर्मसे विमुख कर दिया। इस भावनाने गीताके विचारोंका विरोध किया। लोग कर्मको अकर्म न बनाकर परमार्थसे हाथ धो बैठे। जनता भी कर्मको हेयकी दृष्टिसे देखने लगी। देशमें अकर्मण्य लोगोंका प्रसार हुआ। इस उदासीनताने भारतको कर्म-क्षेत्रसे हटा कर आलस्यके गर्तमें गिरा दिया। लोग कर्मको अविद्या कह कर इससे घृणा करने लगे। ज्ञान, विज्ञान तथा व्यापारमें भारत पश्चिमसे शताब्दियों पीछे हो गया।

अब भारत स्वतंत्र है। यह कर्म-क्षेत्रमें भी अग्रसर होनेका दावा करता है। गीताके कर्म-विज्ञानका यदि आश्रयण किया जाय तो यहाँके लोग अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंके अधिकारी हो सकते हैं। यद्यपि गीताके इस ज्ञान-लोकके अभावमें भारत भौतिकवादकी तरफ तीव्रगतिसे बढ रहा है परन्तु विद्वानोंका कर्तव्य है कि जनताके सामने गीताका परमोज्ज्वल स्वरूप उपस्थित करें। संन्यासका वास्तविक अर्थ है निःस्वार्थभावसे जनताकी सेवा करना। यज्ञ और ज्ञानका सुन्दर समन्वय धीमें होता है। इसीलिये गायत्री-मन्त्रमें बुद्धिको यज्ञमें प्रेरित करनेके लिए ईश्वरसे प्रार्थना की गई।

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्रसोमिनः।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः॥

\+ +

सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्

× × ×

(क्रमशः)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२१६ अधा मही न आयसि अनाधृष्टो नृपीतये । पूर्भवा शतभुजिः । ॥ १४ ॥

१२१७ त्वं नः पाह्यंहसो दोषावस्तरघायतः । दिवा नक्तमदाभ्य ॥ १५ ॥

(ऋ० ७ । १६ । १-१२) प्रगाथः — (बृहती, सतोबृहती ।)

१२१८ एना वो अग्निं नमसा ऊर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ १ ॥

१२१९ स योजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवं राधो जनानाम् ॥ २ ॥

अर्थ— [१२१६] (अध अनाधृष्टः) और शत्रुओंसे आक्रान्त न होकर (नः नृपीतये) हमारे सब मानवोंकी सुरक्षाके लिये (शतभुजिः मही आयसीः पूः भव) सैंकडों मानवोंसे सुरक्षित बडी विस्तृत लोहेके प्राकारवाली पुरी जैसा तू संरक्षक हो ॥ १४ ॥

[१२१७] हे (अदाभ्य) न दबनेवाले वीर ! (त्वं नः) तू हमें (दोषावस्तः) रात्रीके समय और दिनके समय (अंहसः पाहि) पापसे बचा और (दिवा नक्तं अघायतः) दिनमें और रात्रोमें दुष्ट पापी शत्रुओंसे बचा ॥१५॥

(ऋ० ७ । १६ । १-१२)

[१२१८] (ऊर्जः नपातं) बलका पतन न करनेवाले (प्रियं चेतिष्ठं) प्रिय और चेतना देनेवाले (अरतिं स्वध्वरं) प्रगतिशील और उत्तम अहिंसामय यज्ञ निर्माता विश्वस्य अमृतं दूतं) सबके अमर दूत ऐसे (एना नमसा) इस अग्निको नम्रतापूर्वक (वः आ हुवे) आप सबके हितके लिये मैं बुलाता हूं ॥ १ ॥

[१२१९] (सः विश्वभोजसा अरुषा) वह अग्नि विश्वको भोजन देनेवाले अपने तेजसे (योजते) युक्त होता है, प्रकाशता है। और (स दुद्रवत्) शीघ्र गतिसे जाता है। वह (स्वाहुतः सुब्रह्मा) वह उत्तम आहुतियोंको लेनेवाला, उत्तम ज्ञानी, (यज्ञः सुशमी) यजनीय और उत्तम कर्म करनेवाला अग्नि (वसूनां देवं राधः) धनोंमें दिव्य धन (जनानां) लोगोंको देता है ॥ २ ॥

भावार्थ— यह अग्नि शत्रुओं द्वारा आक्रान्त नहीं होता अर्थात् यह इतना शक्तिशाली है कि शत्रु इसपर आक्रमण नहीं कर सकते। यह अपने भक्तोंकी उसी प्रकार सुरक्षा करता है। जिस प्रकार लोहेकी बनी चहारदीवारीवाला किला ॥१४॥

यहां सुरक्षाका प्रबंध जैसा रात्रीके समय वैसा ही दिनके समय भी जागरूकताके साथ होना चाहिये ऐसा कहा है। वह योग्य है। यह सुरक्षाका प्रबंध जैसा अन्धेरेमें वैसा ही प्रकाशमें होना चाहिये। प्रति समय संरक्षक वीर जागते रहें और अपना कर्तव्य करते रहें। सुरक्षाके प्रबंधमें ढीलापन न रहे ॥ १५ ॥

अपना बल कम होने योग्य कुछ भी न करना, प्रिय आचरण करना, उत्साह बढाना, प्रगतिशील होना, हिंसारहित कर्म करना, मुर्दा जैसा न रहना, प्रभुसेवाके भावसे कार्य करना, नम्रतापूर्वक वीरको बुलाना सबके हितके लिये प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥ १ ॥

पूजाके योग्य तरुण वीर विश्वरक्षक, विश्वको भोजन देनेवाले तेजसे युक्त हो, उत्तम ज्ञानी हो, उत्तम अन्न अपने पास रखे, सत्कार-संगठन दानात्मक शुभ कर्म करता रहे, इन्द्रियोंका शमन करनेवाला हो, उत्तम कर्म करे और उत्तम धन लोगोंको देता रहे ॥ २ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२२० उदस्य शोचिरस्थाद् आजुह्वानस्य मीळ्हुषः ।
उद्धूमासो अरुषासो दिविस्पृशः समग्निमिन्धते नरः ॥ ३ ॥

१२२१ तं त्वा दूतं कृण्महे यशस्तमं देवाँ आ वीतये वह ।
विश्वा सूनो सहसो मर्तभोजना रास्व तद् यत् त्वेमहे ॥ ४ ॥

१२२२ त्वमग्ने गृहपति—स्त्वं होता नो अध्वरे ।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि वेषि च वार्यम् ॥ ५ ॥

१२२३ कृधि रत्नं यजमानाय सुक्रतो त्वं हि रत्नधा असि ।
आ न ऋते शिशीहि विश्वमृत्विजं सुशंसो यश्च दक्षते ॥ ६ ॥

अर्थ— [१२२०] (मीळ्हुषः आजुह्वानस्य) कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले और जिसमें हवन हो रहा है ऐसे (अस्य शोचिः उत् अस्थात्) इस अग्निकी ज्वालाएं ऊपर उठती हैं। (अरुषासः दिविस्पृशः धूमासः उत्) तेजस्वी आकाशको स्पर्श करनेवाले धूम ऊपर जा रहे हैं। ऐसे (अग्निं नरः सं इन्धते) अग्निको लोग प्रदीप्त करते हैं ॥ ३ ॥

[१२२१] हे (सहसः सूनो) बलसे उत्पन्न हुए अग्ने ! (यशस्तमं तं त्वा दूतं कृण्महे) अत्यंत यशस्वी ऐसे तुझे हम दूत करते हैं। वह तू (देवान् वीतये आवह) देवोंको हविका भक्षण करनेके लिये यहां ले आ। (यत् त्वा ईमहे) जब हम तेरे पास आते हैं तब (तत् विश्वा मर्तभोजना रास्व) सब मनुष्योंको भोगने योग्य धन हमें दे ॥४॥

[१२२२] हे (विश्ववार अग्ने) सबके द्वारा वरने योग्य अग्ने ! (त्वं नः अध्वरे गृहपतिः) तू हमारे यज्ञ कर्ममें गृहका संरक्षक है, (त्वं होता) तू देवोंको बुलानेवाला है, (त्वं पोता प्रचेताः) तू पवित्र करनेवाला अत्यंत बुद्धिमान् है अतः तू (वार्यं यक्षि वेषि च) यज्ञमें प्रयुक्त होनेवाले हविरूप अन्नका यजन कर और उसकी प्राप्तिकी इच्छा कर ॥ ५ ॥

[१२२३] हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म करनेवाले अग्ने ! (यजमानाय रत्नं कृधि) यजमानके लिये रत्न व धन दे। (हि त्वं रत्नधाः असि) क्योंकि तू रत्नोंका धारण करनेवाला है। (नः ऋते) हमारे यज्ञमें (विश्वं ऋत्विजं आशिशीहि) सब ऋत्विजोंको तेजस्वी कर। (यः सुशंसः च दक्षते) जो उत्तम प्रशंसाके योग्य है उसको दक्षतासे बढा ॥ ६ ॥

भावार्थ— प्रभातकालमें इस अग्निकी ज्वालायें प्रदीप्त होकर सब ऋत्विजोंकी कामनाओंको पूर्ण करता है, फिर इन ज्वालाओंमें हवि दी जाती है। तब इसकी ज्वालायें और प्रदीप्त हो उठती हैं और इसका धुंआ आकाशको छूने लगता है ॥३॥

यह अग्नि बलसे उत्पन्न होता है और उत्पन्न होते ही देवोंका दूत बन जाता है। हम उससे मनुष्योंके लिये जो जो धन भोगने योग्य हैं वे सब धन मांगते हैं। धन, रत्न, घोडे, गौवें, रथ, घर आदि सभी भोग्य पदार्थ मांगते हैं ॥ ४ ॥

मनुष्य सबको प्रिय, अपने घरका स्वामी, अपने स्थानका स्वामी, देशका पालक, उत्तम बुद्धिमान् और पवित्र करनेवाला बने। अग्निके गुण मनुष्यमें देखनेसे आदर्श व्यक्ति सामने खडा हो जाता है ॥ ५ ॥

हे उत्तम कर्म करनेवाले अग्रणे ! तू यज्ञ करनेवालेके लिए रत्न दे क्योंकि तू ही रत्नोंको धारण करता है। हमारे यज्ञमें आकर तू यजमानोंको तेजस्वी कर और सज्जनोंको बढा ॥ ६ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२२४ त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानाम् ऊर्वान् दयन्त गोनाम् ॥ ७ ॥

१२२५ येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति ।
ताँस्त्रायस्व सहस्य द्रुहो निदो यच्छा नः शर्म दीर्घश्रुत् ॥ ८ ॥

१२२६ स मन्द्रया च जिह्वया वह्निरासा विदुष्टरः ।
अग्ने रयिं मघवद्भ्यो न आ वह हव्यदातिं च सूदय ॥ ९ ॥

१२२७ ये राधांसि ददत्यश्व्या मघा कामेन श्रवसो महः ।
ताँ अंहसः पिपृहि पर्तृभिष्ट्वं शतं पूर्भिर्यविष्ठ्य ॥ १० ॥

अर्थ— [१२२४] हे (अग्ने) अग्ने! हे (स्वाहुत) उत्तम आहुति लेनेवाले ! (ते सूरयः प्रियासः सन्तु) तुझे विद्वान् प्रिय हों। तथा (ये यन्तारः मघवानः) जो दाता धनवान् हैं और जो (जनानां गोनां ऊर्वान् दयन्त) लोगोंको गौओंके झुण्डोंको दानमें देते हैं, वे भी तुझे प्रिय हों ॥ ७ ॥

[१२२५] (येषां दुरोणे घृतहस्ता इळा) जिनके घरमें घी हाथमें लेकर अन्न परसनेवाली (प्राता आ निषीदति) भरपूर अन्न लेकर बैंठती है। हे (सहस्य) बलवान् ! (तान् त्रायस्व) उनको सुरक्षित कर। (द्रुहः निदः) द्रोहकारी निंदक शत्रुसे उनको बचा। (नः दीर्घश्रुत् शर्म यच्छ) हमें दीर्घकाल तक टिकनेवाले यशसे युक्त सुख या घर दे ॥ ८ ॥

[१२२६] हे (अग्ने) अग्ने ! (मन्द्रया आसा जिह्वया) आनन्ददायक मुखमें रहनेवाली जिह्वासे—ज्वालासे— (वह्निः विदुष्टरः) हवनीय द्रव्योंका वहन करनेवाला ज्ञानी (सः) वह अग्नि तू (मघवद्भ्यः नः रयिं आ वह) धन देनेवाले हम सबके लिये धन ले आ, और (हव्यदातिं च सूदय) हवनीय अन्नका दान करनेवाले यजमानको प्रशस्त कर्ममें प्रेरित कर ॥ ९ ॥

[१२२७] हे (यविष्ठ्य) अत्यंत तरुण वीर अग्ने ! (महः श्रवसः कामेन) बडे यशकी इच्छासे जो (राधांसि अश्व्या मघा) सिद्धिदायक अश्व युक्त धन (ददति) दानमें देते हैं, (तान् अंहसः) उनको पापसे अथवा दुष्ट शत्रुसे (पर्तृभिः शतं पूर्भिः त्वं पिपृहि) संरक्षक साधनोंसे तथा सैंकडों किलोंवाली नगरियोंसे तू सुरक्षित रख ॥ १० ॥

भावार्थ— ज्ञानी मनुष्यको प्रिय हों, वे ज्ञानियोंके पास रहें, धनवान् दाता हों, धनी लोग अपने धनका दान करते रहें। उत्तम सत्पुरुषोंको गायोंके झुण्ड दानमें दिये जायें ॥ ७ ॥

हे अग्ने ! जिनके घरोंमें देवियाँ घी और अन्नके भरे पात्र लेकर अन्नपान करानेके लिये सिद्ध रहती हैं। उनका संरक्षण कर। द्रोही तथा निंदक शत्रुओंसे उनका संरक्षण कर। जिसकी कीर्ति दीर्घकाल तक टिकी रहती है ऐसा घर, संरक्षण हमें दे ॥८॥

अग्नि विद्वानोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी वीर आनन्द देनेवाली मधुर भाषाके साथ हमें धन देवे। उत्तम भाषण करे और श्रेष्ठ अन्न भी देवे। धनवान् दानी मनुष्योंके लिये धन दे। जिससे वे अधिक दान देते रहें। अन्नका दान करनेकी प्रेरणा कर ॥ ९ ॥

जो बडे यशकी इच्छामें सिद्धि देनेवाले धन, जिनमें अश्व गौ घर आदिका समावेश होता है, दानमें देते हैं, उनका संरक्षण होना चाहिये। उनको पापसे बचाना चाहिए ॥ १० ॥

*

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२२८ देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्यासिचम् ।
उद् वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्व—मादिद् वो देव ओहते ॥ ११ ॥

१२२९ तं होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
दधाति रत्नं विधते सुवीर्य—मग्निर्जनाय दाशुषे ॥ १२ ॥

(ऋ० ७ । १७ । १-७) द्विपदा त्रिष्टुप् ।

१२३० अग्ने भव सुषमिधा समिद्ध उत बर्हिरुर्विया वि स्तृणीताम् ॥ १ ॥

१२३१ उत द्वार उशतीर्वि श्रयन्ता—मुत देवाँ उशतः आ वहेह ॥ २ ॥

१२३२ अग्ने वीहि हविषा यक्षि देवान् त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः ॥ ३ ॥

अर्थ—[१२२८] (द्रविणोदाः देवः) धन देनेवाला अग्निदेव (वः पूर्णां आसिचं विवष्टि) आपकी घृतादिसे परिपूर्ण चमसकी इच्छा करता है । (वा उत् सिंचध्वं) पात्र भरपूर भर दो, अथवा (वा उप पृणध्वं) पात्रको परिपूर्ण करो । (आत् इत् देवः वः ओहते) अनंतर अग्निदेव तुम्हें उच्च अवस्थाको पहुंचा देगा ॥ ११ ॥

[१२२९] (देवाः प्रचेतसं तं वह्निं) देव उस ज्ञानी अग्निका (अध्वरस्य होतारं अकृण्वत) हिंसारहित कर्मके करनेवालेके रूपमें निर्माण करते हैं । वह (अग्निः विधते दाशुषे जनाय) अग्नि परिचर्या करनेवाले दाता मनुष्यके लिये (सुवीर्यं रत्नं दधाति) उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति और उत्तम धन देता है ॥ १२ ॥

(ऋ० ७ । १७ । १-७)

[१२३०] हे (अग्ने) अग्ने ! (सुषमिधा समिद्धः भव) उत्तम समिधासे प्रदीप्त हो । (उत) और (उर्विया बर्हिः विस्तृणीतां) याजक उत्तम विस्तीर्ण आसन फैलावे ॥ १ ॥

[१२३१] (उत उशतीः द्वारः विश्रयन्तां) और देवभक्ति करनेवाली देवियां विश्राम करें । (उत उशतः देवान् इह आ वह) यज्ञ करनेकी इच्छा करनेवाले देवोंको यहां यज्ञमें ले आ ॥ २ ॥

[१२३२] हे (जातवेदः) जातवेद ! (वीहि) जा (हविषा देवान् यक्षि) हविसे देवोंका यजन कर उनको (स्वध्वरा कृणुहि) उत्तम यज्ञवाला बना ॥ ३ ॥

भावार्थ— चमस भरकर आहुतियाँ दो । इससे यज्ञ सफल होगा और यज्ञकर्ताका यश फैलेगा ॥ ११ ॥

देवोंने विशेष ज्ञानी और अग्निके समान तेजस्वी वीरको कुटिलता रहित कर्मके करनेके लिये उत्पन्न किया । यह तेजस्वी वीर कर्ता दाता जनके लिये उत्तम वीर्य और धन देता है । मनुष्य कुटिलता रहित कर्म करे, शौर्यके कर्म करे और धन प्राप्त करे । छल, कपट, भीरुता आदिके द्वारा धन कमाना अच्छा नहीं है ॥ १२ ॥

यज्ञकर्ता लोग समिधा डालकर अग्निको प्रदीप्त करें और यज्ञशालामें बैठनेवालोंके लिये विस्तीर्ण आसन फैलावें ॥ १ ॥

हे सर्वज्ञ अग्ने ! हविसे देवोंकी पूजा कर, ताकि हमारे द्वारा किया जानेवाला यज्ञ उत्तमतासे सिद्ध हो । इस यज्ञमें सभी दिव्यशक्तियां आकर बैठें । उन सब यज्ञ करनेवालोंको इस यज्ञमें ले आ ॥ २-३ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२३३ स्वध्वरा करति जातवेदा यक्षद्देवाँ अमृतान् पिप्रयच्च ॥ ४ ॥

१२३४ वंस्व विश्वा वार्याणि प्रचेतः सत्या भवन्त्वाशिषो नो अद्य ॥ ५ ॥

१२३५ त्वामु ते दधिरे हव्यवाहं देवासो अग्न ऊर्ज आ नपातम् ॥ ६ ॥

१२३६ ते ते देवाय दाशतः स्याम महो नो रत्ना वि दध इयानः ॥ ७ ॥

(ऋ० ७।५०।२) जगती।

१२३७ यद् विजामन् परुषि वन्दनं भुवदष्ठीवन्तौ परि कुल्फौ च देहत् ।
अग्निष्टच्छोचन्नप बाधतामितो मा मां पद्येन रपसा विदत् त्सरुः ॥ २ ॥

अर्थ— [१२३३] (जातवेदाः अमृतान् देवान्) जातवेद अग्नि अमर देवोंको (स्वध्वरा करति) उत्तम यज्ञवाला बनाता है, (यक्षत् पिप्रयत् च) यज्ञ करता और प्रसन्न करता है ॥ ४ ॥

[१२३४] हे (प्रचेतः) उत्तम बुद्धिमान् अग्ने ! (विश्वा वार्याणि वंस्व) सब प्रकारके धन हमें दे और (नः आशिषः अद्य सत्याः भवन्तु) हमारे आशीर्वाद आज सत्य हों ॥ ५ ॥

[१२३५] हे अग्ने ! (ऊर्जः नपातं त्वां) बलको न गिरानेवाले तुझको (हव्यवाहं ते देवासः दधिरे उ) हविका वहन करनेके लिये उन देवोंने धारण किया है ॥ ६ ॥

[१२३६] (देवाय ते) तुझ देवके लिये (ते दाशतः स्याम) वे हम हवि देनेवाले हों और (महः इयानः) महत्त्वको प्राप्त होकर (नः रत्ना विदधः) हमें रत्नोंको दे ॥ ७ ॥

(ऋ० ७।५०।२)

[१२३७] (वंन्दनं यत् विजामन्) वंदन नामक विष जो जन्म भर रहता है, (परुषि भुवत्) जो पर्वस्थानमें रहता है, जो (अष्ठीवन्तौ कुल्फौ परि च देहत्) जांघों और ग्रंथियोंमें फूलता है, (अग्निः शोचन् इतः तत् अपबाधतां) अग्नि प्रकाशित होकर यहांसे उसे दूर करे। (त्सरुः पद्येन रपसा मां मा विदत्) पांवके शब्दसे सांप मुझे न पहचाने ॥ २ ॥

भावार्थ— यह सर्वज्ञ अग्नि अमर देवोंको उत्तम यज्ञमें बुलाकर लाता है, उन देवोंके आनेसे यज्ञ उत्तम रीतिसे पूर्ण होता है। इस प्रकार वह हमें सब तरहके धन देता है। इस तरह हमारी कामनायें पूर्ण होती हैं ॥ ४-५ ॥

अग्नि शरीरके बलको क्षीण नहीं होने देता। उत्साहको हमेशा स्थायी रखता है। इस प्रकार शरीरस्थ अग्नि इन्द्रियोंको धारण करती है। इस अग्निमें मनुष्य यदि उत्तम उत्तम हवि देगा तो शरीरस्थ देव अर्थात् इन्द्रियें बलवान् होंगे। तब वे हमें रत्न-स्वास्थ्यरूपी ऐश्वर्य प्रदान करेंगे ॥ ६-७ ॥

संधिके और ग्रंथियोंके रोग जो होते हैं, उन्हें अग्निकी ज्योतिसे अथवा लोहेके तारको अग्निमें लाल करके उन ग्रंथियों और जोडोंको दागनेसे रोग मिट जाता है और इस चिकित्सासे रोगी इतना स्वस्थ हो जाता है कि सबसे तेज सुननेवाला सांप भी उसके कदमोंकी आवाज नहीं सुन पाता, अर्थात् जो पहले संधिवातके कारण चलने फिरनेमें असमर्थ था, वही इस चिकित्सासे इतनी उत्तमतासे चल फिर सकता है ॥ २ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(ऋ० ७। १०४। १०, १४) त्रिष्टुप्।

१२३८ यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।
रिपुः स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥ १० ॥

१२३९ यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ १४ ॥

(ऋ० ८। ११। १-१०) वत्सः काण्वः। गायत्री, १ प्रतिष्ठा, २ वर्धमाना, १० त्रिष्टुप्।

१२४० त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ १ ॥

१२४१ त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य। अग्ने रथीरध्वराणाम् ॥ २ ॥

१२४२ स त्वमस्मदप द्विषो युयोधि जातवेदः। अदेवीरग्ने अरातीः ॥ ३ ॥

(ऋ० ७। १०४। १०, १४)

अर्थ— [१२३८] हे (अग्ने) अग्ने ! (यः नः पित्वं रसं दिप्सति) जो हमारे अन्नके सारभूत रसका नाश करता है, (यः अश्वानां) जो घोडोंका (यः गवां) जो गायोंका (यः तनूनां) जो हमारे शरीरोंका नाश करता है वह (स्तेयकृत् स्तेनः रिपुः दभ्रं एतु) चोरी करनेवाला चोर समाजका शत्रु विनाशको प्राप्त होवे, (सः तन्वा तना च नि हीयतां) वह अपने शरीर और सन्तानके साथ विनष्ट हो जावे ॥ १० ॥

[१२३९] (यदि वा अहं अनृतदेवः आस) यदि मैं असत्यको ही देव माननेवाला बनूं अथवा यदि मैं (देवान् मोघं अपि ऊहे) देवोंकी कपट भावसे उपासना करूं, तो हे (अग्ने) अग्ने ! हे (जातवेदः) सब जाननेवाले (अस्मभ्यं किं हृणीषे) हमारे ऊपर तू क्रोध क्यों करता है ? (द्रोघवाचः ते निर्ऋथं सचन्तां) द्रोहपूर्ण मिथ्याभाषी जो हैं, वे ही तेरे द्वारा बुरी अवस्थाको प्राप्त हों ॥ १४ ॥

(ऋ० ८। ११। १-१०)

[१२४०] हे (देव अग्ने) दिव्यगुण युक्त अग्ने ! (त्वं मर्त्येषु आ व्रतपा असि) तू मनुष्यों तथा देवोंके मध्यमें उत्तम व्रतोंका रक्षक है, इसलिये (यज्ञेषु त्वं ईड्यः) यज्ञोंमें तू स्तुतिके योग्य है ॥ १ ॥

[१२४१] हे (सहन्त्य अग्ने) शत्रुओंको पराजित करनेवाले अग्ने ! (त्वं विदथेषु प्रशस्यः अध्वराणां रथीः असि) तू यज्ञोंमें स्तुति करनेके योग्य और हिंसारहित यज्ञोंका नेता है ॥ २ ॥

[१२४२] हे (जातवेदः अग्ने) संसारके सब पदार्थोंको जाननेवाले अग्ने ! (सः त्वं अस्मत् द्विषः अप युयोधि) वह तू हमसे शत्रुओंको दूर कर। तथा (अदेवीः अरातीः) आसुरी शत्रु सेनाको भी हमसे परे हटा ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! जो हमारे अन्नका, घोडोंका और गौ आदि पशुओं तथा हमारे शरीरोंका नाश करता है, वह चोरी करनेवाला समाजका शत्रु है और वह विनष्ट होने योग्य है ॥ १० ॥

हे अग्ने ! मैं तुम्हारा उपासक सदा उत्तम भावसे ही तुम्हारी उपासना करता हूं, पर यदि कभी प्रमादवश मुझसे गलती हो भी जाए, तो भी मुझे क्षमा कर दो, कभी हम पर क्रोध मत करो। जो दुष्ट हैं, वे ही केवल तुम्हारे क्रोधके शिकार हों, हम नहीं ॥ १४ ॥

हे अग्ने ! तू देवों और मनुष्योंके द्वारा किए जानेवाले उत्तम व्रतोंका रक्षक है और तू शत्रुओंको पराजित करनेवाला है, इसलिए सभी तरहके यज्ञोंमें तेरी ही स्तुति होती है ॥ १-२ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२४३ अन्ति चित् सन्तमह यज्ञं मर्तस्य रिपोः । नोप वेषि जातवेदः ॥ ४ ॥
१२४४ मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे । विप्रासो जातवेदसः ॥ ५ ॥
१२४५ विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये । अग्निं गीर्भिर्हवामहे ॥ ६ ॥
१२४६ आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात् । अग्ने त्वां कामया गिरा ॥ ७ ॥
१२४७ पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनु प्रभुः । समत्सु त्वा हवामहे ॥ ८ ॥
१२४८ समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे । वाजेषु चित्रराधसम् ॥ ९ ॥
१२४९ प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रयस्व अस्मभ्यं च सौभगमा यजस्व ॥ १० ॥

अर्थ— [१२४३] हे (जातवेदः) स्वभावसे ज्ञानवान् प्रकाशशील अग्ने ! तू (अह रिपोः मर्तस्य) हमारे शत्रुजनके (अन्ति चित् सन्तं) समीपस्थ विद्यमान रहनेवाले (यज्ञं न उप वेषि) यज्ञकी कामना नहीं करता है ॥ ४ ॥

[१२४४] हे अग्ने ! (जातवेदसः विप्रासः मर्ताः) ज्ञानसे उत्पन्न हुए हुए ज्ञानी ब्राह्मणजन (अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे) मरणरहित तेरे विस्तृत नामका मनन करते हैं ॥ ५ ॥

[१२४५] (विप्रासः मर्तासः) विप्र और मरणधर्मवाले मनुष्य हम (विप्रं देवं अग्निं) मेधावी, दिव्यगुणयुक्त अग्निको (अवसे ऊतये गीर्भिः हवामहे) हव्यके द्वारा प्रसन्न करके, अपनी रक्षाके निमित्त स्तुतियों द्वारा बुलाते हैं ॥ ६ ॥

[१२४६] हे (अग्ने) अग्ने ! (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट उत्तम वास स्थान द्युलोकसे भी (ते मनः वत्सः) तेरे मनको पुत्ररूप उपासक जन (त्वां कामया गिरा) तेरी अभिलाषा करनेवाली वाणीसे (आ यमत्) अपनी ओर आकर्षित करते हैं ॥ ७ ॥

[१२४७] हे अग्ने ! (हि पुरुत्रा सदृङ्ङसि) निश्चयसे तू बहुत देशोंमें समानरूपसे देखनेवाला है। (विश्वाः विशः अनु प्रभुः) समस्त प्रजाओंका अधिपति है। ऐसे तुझको हम (समत्सु हवामहे) संग्राममें बुलाते हैं ॥ ८ ॥

[१२४८] हम (वाजयन्तः वाजेषु समत्सु अवसे चित्रराधसं अग्निं हवामहे) अन्नकी कामनावाले होकर अन्न और बलके प्राप्त होनेवाले संग्राममें अपनी रक्षाके लिये अनेक ऐश्वर्योंको धारण करनेवाले अग्निको बुलाते हैं ॥ ९ ॥

[१२४९] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (अध्वरेषु ईड्यः च हि कं प्रत्नः) यज्ञोंमें स्तुत्य और सुखदायक और अत्यन्त प्राचीन है। (च सनात् होता च नव्यः सत्सि) और चिरकालसे ही होता एवं स्तुतिके योग्य होकर यज्ञमें विराजमान होता है। तू (स्वां तन्वं पिप्रयस्व) अपने शरीरको हविसे संतुष्ट कर (च अस्मभ्यं सौभगं आ यजस्व) और हमको भी सौभाग्यशाली बना ॥ १० ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! तू हमसे शत्रुओंको दूर कर और असुरोंकी सेनाको भी हमसे दूर ही रख। अपने शत्रुके यज्ञमें, चाहे वह कितने ही पासके स्थानमें हो रहा हो, तू कभी नहीं जाता, इसके विपरीत अपने भक्तके यज्ञमें, भले ही वह दूर हो, अवश्य जाता है ॥ ३-४ ॥

अग्निका नाम मनन करने योग्य है उसके अनेक नाम होनेसे वह बडा विस्तृत है। ऐसे उस अग्निको सभी ज्ञानी अपनी रक्षाके लिए स्तुतियों द्वारा बुलाते हैं ॥ ५-६ ॥

यह अग्नि सबको समान दृष्टिसे देखता है, इसके लिए न कोई शत्रु है न मित्र है। इसीलिए यह सब प्रजाओंका स्वामी है। इसे सभी मनुष्य अपनी उत्तम उत्तम स्तुतियोंके द्वारा बुलाते हैं और इसकी सहायताको पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ७-८ ॥

यह अग्नि यज्ञोंमें स्तुतिके योग्य सुखदायक और अत्यन्त प्राचीन होनेके कारण सभीके द्वारा बुलाया जा कर यज्ञमें जाता है तथा स्वयं हविसे सन्तुष्ट होकर यज्ञ करनेवालोंको भी सौभाग्यशाली बनाता है। इसीलिए अन्न और बल प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्य इस अग्निको बुलाते हैं ९-१० ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(ऋ० ८ । १९ । १-३३) सोभरिः काण्वः । प्रगाथः=(ककुप्+सतोबृहती), २७ द्विपदा विराट् ।

१२५० तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे । देवत्रा हव्यमोहिरे ॥ १ ॥

१२५१ विभूतरातिं विप्र चित्रशोचिष—मग्निमीळिष्व यन्तुरम् ।
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रेमध्वराय पूर्व्यम् ॥ २ ॥

१२५२ यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥

१२५३ ऊर्जो नपातं सुभगं सुदीदितिं—मग्निं श्रेष्ठशोचिषम् ।
स नो मित्रस्य वरुणस्य सो अपा—मा सुम्नं यक्षते दिवि ॥ ४ ॥

१२५४ यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये । यो नमसा स्वध्वरः ॥ ५ ॥

(ऋ० ८ । १९ । १-३३)

अर्थ— [१२५०] हे स्तोता लोगो ! जिस (स्वर्णरं देवं अरतिं देवासः दधन्विरे) सुवर्णको देनेवाले दिव्यगुण युक्त, स्वामी अग्निको देवगण अपने अन्दर धारण करते हैं। तथा (देवत्रा हव्यं आ ऊहिरे) विद्वान् मनुष्य जिस अग्निको हवि प्रदान करते हैं (तं गूर्धय) उस प्रसिद्ध अग्निकी तुम सब स्तुति करो ॥ १ ॥

[१३५१] हे (विप्र सोभरे) मेधाविन् और उत्तम रीतिसे प्रजाके पोषण करनेवाले ऋषे ! तुम (अध्वराय) यज्ञके लिये (विभूतरातिं चित्रशोचिषं) बहुत दान देनेवाले अद्भुत तेजस्वी (अस्य सोम्यस्य, मेधस्य यन्तुरं पूर्वं) इस सोम यज्ञके नियन्ता और सबके पूर्वसे विद्यमान ऐसे गुणोंसे सम्पन्न (ईं अग्निं प्र ईळिष्व) इस अग्निकी अच्छी प्रकारसे पूजा करो ॥ २ ॥

[१२५२] हे अग्ने ! हम सब, (अस्य यज्ञस्य सुक्रतुं, होतारं) इस यज्ञको उत्तमतासे पूरा करनेवाले, देवोंके बुलानेवाले (अमर्त्यं देवत्रा देवं, यजिष्ठं त्वा ववृमहे) कभी भी न मरनेवाले, देवताओंके मध्यमें अत्यन्त श्रेष्ठ गुणोंवाल, पूजनीय ऐसे तेरा वरण करते हैं ॥ ३ ॥

[१२५३] (ऊर्जः नपातं सुभगं सुदीदितिं श्रेष्ठशोचिषं अग्निं) बलको न गिरने देनेवाले, ऐश्वर्यवान्, अच्छे प्रकाशसे युक्त श्रेष्ठ कान्तिवाले अग्निकी स्तुति करते हैं। (सः नः दिवि मित्रस्य वरुणस्य सुम्नं आ यक्षते) वह अग्नि हमारे लिये प्रदीप्त यज्ञमें मित्रके तथा वरुणके सुखको प्रदान करे। तथा (सः अपां) वह अग्नि जलके प्राप्त होनेवाले सुखोंको भी प्रदान करनेवाला हो ॥ ४ ॥

[१२५४] (यः सु अध्वरः मर्तः) जो उत्तम अहिंसक यज्ञशील मनुष्य (नमसा) अन्नसे (यः समिधा) जो काष्ठसे, (यः आहुती) जो आहुतिसे, (यः वेदेन) जो ज्ञानसे, (अग्नये ददाश) अग्निके लिये आहुति प्रदान करता है, वह मनुष्य उत्तम सुखसे युक्त होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह अग्नि स्वर्णको देनेवाला, उत्तम गुणोंसे युक्त, सबका स्वामी, बहुत दान देनेवाला, अत्यन्त तेजस्वी और यज्ञोंको सिद्ध करनेवाला है। इसी कारण सब विद्वान् इसकी पूजा करते हैं और अपने अन्दर इसे धारण करते हैं॥ १-२ ॥

यह अग्नि सब तरहके यज्ञोंको पूरा करनेवाला, देवोंको बुलाकर लानेवाला, अमर और देवोंके बीचमें सबसे अधिक श्रेष्ठ गुणवाला है, ऐसे बल प्रदान करनेवाले, ऐश्वर्यवान् उत्तम तेजवाले अग्निकी स्तुति करनी चाहिए। वह मित्र, वरुण और जलसे प्राप्त होनेवाले सुखोंको प्रदान करता है। मित्र-सूर्य, वरुण-वर्षा और जलसे आरोग्य प्राप्त होकर अनेक तरहके सुख मिलते हैं। इस मंत्रमें वेद प्राकृतिकचिकित्साकी ओर संकेत करता है ॥ ३-४ ॥

जो हिंसा न करनेवाला मनुष्य अन्नसे, समिधासे, आहुतिसे और ज्ञानसे इस अग्निकी सेवा करता है, वह ऐश्वर्यवान् होता है, वह उत्तम घोडोंका स्वामी बनता है, वह यशस्वी होता है। यदि कभी प्रमादवश वह देवों और मनुष्योंके प्रति अपराध कर भी दे; तो भी वह उस अपराधके कारण नष्ट नहीं होता ॥ ५-६ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२५५ तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः ।
न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् ॥ ६ ॥

१२५६ स्वग्नयो वो अग्निभिः स्याम सूनो सहस ऊर्जां पते । सुवीरस्त्वमस्मयुः ॥ ७ ॥

१२५७ प्रशंसमानो अतिथिर्न मित्रियोऽग्नी रथो न वेद्यः ।
त्वे क्षेमासो अपि सन्ति साधवस्त्वं राजा रयीणाम् ॥ ८ ॥

१२५८ सो अद्धा दाश्वध्वरोऽग्ने मर्तः सुभग स प्रशंस्यः । स धीभिरस्तु सनिता ॥ ९ ॥

१२५९ यस्य त्वमूर्ध्वो अध्वराय तिष्ठसि क्षयद्वीरः स साधते ।
सो अर्वद्भिः सनिता स विपन्युभिः स शूरैः सनिता कृतम् ॥ १० ॥

अर्थ— [१२५५] जो मनुष्य अग्निका यजन करता है (तस्येत् आशवः अर्वन्तः रंहयन्ते) उसके ही वेगसे जानेवाले घोडे तेजीसे दौडते हैं (तस्य यशः द्युम्नितमं) उस मनुष्यका ही यश अत्यन्त उज्ज्वल होता है। (देवकृतं अंहः कुतश्चन तं न नशत्) देवताओंके प्रति किया हुआ पाप उसको किसी भी प्रकार नष्ट नहीं करता, और (न मर्त्यकृतं) न मनुष्योंके प्रति किया हुआ पाप ही उसे नष्ट करता है ॥ ६ ॥

[१२५६] हे (सहसः सूनो ऊर्जां पते) बलके पुत्र, बलके स्वामी अग्ने ! हम लोग (वः अग्निभिः, सु अग्नयः स्याम) तेरे गार्हपत्यादि अग्नियोंसे सुन्दर अग्निवाले होवें। और (त्वं अस्मयुः सुवीरः) तू हम लोगोंको उत्तम वीर सन्तानोंसे युक्त बना ॥ ७ ॥

[१२५७] (अग्निः अतिथिः न प्रशंसमानः) अग्नि अतिथिके समान प्रशंसाके योग्य, (रथः न वेद्यः) रथके समान सबसे जानने योग्य (मित्रियः) मित्रोंका हित साधक है। हे अग्ने ! (त्वे साधवः क्षेमासः अपि सन्ति) तेरे आश्रयमें रहकर साधना करनेवाले सब प्रकारके कल्याणसे युक्त होते हैं, क्योंकि (त्वं रयीणां राजा) तू सम्पूर्ण धनोंका राजा है ॥ ८ ॥

[१२५८] हे (अग्ने) अग्ने ! जो (मर्तः दाशु-अध्वरः सः अद्धा) मनुष्य दानी और हिंसारहित कर्म करनेवाला है, वह सत्य फलसे भी युक्त हो। हे (सुभग) शोभन ऐश्वर्यवाले अग्ने ! (सः प्रशंस्यः) वह तू प्रशंसनीय है। तथा (सः धीभिः सनिता अस्तु) वह तू कर्मों और उत्तम बुद्धियोंसे हमारी रक्षा करनेवाला हो ॥ ९ ॥

[१२५९] हे अग्ने ! जिस मनुष्यके (अध्वराय त्वं ऊर्ध्वः तिष्ठसि) यज्ञमें जानेके लिये तू तैय्यार रहता है (सः क्षयद्वीरः साधते) वह पुत्रादि वीरोंका स्वामी होकर अपने सब कामोंको सिद्ध करता है। (सः अर्वद्भिः कृतं सनिता) वह अपने अश्वोंसे किये हुये राज्यका भोक्ता होता है। (सः विपन्युभिः) वह मेधावी लोगोंसे युक्त होता है। तथा (सः शूरैः सनिता) वह बलवानोंसे भी आदरणीय होता है ॥ १० ॥

भावार्थ— यह अग्नि अतिथिके समान पूज्य, रथके समान जानने योग्य और अपने प्रिय भक्तोंका हित करनेवाला है। इसीके सहारे रहनेवाले भक्त सब प्रकारके कल्याणों और धनोंसे युक्त होते हैं और अग्निके समान तेजस्वी होते हैं और वीर सन्तानोंसे युक्त होते हैं ॥ ७-८ ॥

जो दान और हिंसारहित कर्म करता है, वह सत्य फलसे युक्त होता है, और यह अग्नि उसीके यज्ञमें जानेके लिए सदा तैय्यार रहता है। वही मनुष्य वीर पुत्रोंसे, घोडोंसे, और मेधावी लोगोंसे युक्त होता है और वह सब वीर पुरुषोंके द्वारा आदरणीय होता है ॥ ९-१० ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२६० यस्याग्निर्वपुर्गृहे स्तोमं चनो दधीत विश्ववार्यः । हव्या वा वेविषद् विषः ॥ ११ ॥

१२६१ विप्रस्य वा स्तुवतः सहसो यहो मक्षूतमस्य रातिषु ।
अवोदेवमुपरिमर्त्यं कृधि वसो विविदुषो वचः ॥ १२ ॥

१२६२ यो अग्निं हव्यदातिभिर्नमोभिर्वा सुदक्षमाविवासति । गिरा वाजिरशोचिषम् ॥ १३ ॥

१२६३ समिधा यो निशिती दाशदर्दितिं धामभिरस्य मर्त्यः ।
विश्वेत् स धीभिः सुभगो जनाँ अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत् ॥ १४ ॥

१२६४ तदग्ने द्युम्नमा भर यत् सासहत् सदने कं चिदत्रिणम् । मन्युं जनस्य दूढ्यः ॥ १५ ॥

अर्थ—[१२६०] (विश्ववार्यः वपुः अग्निः) सबसे वरण करने योग्य रूपवान् अग्नि (यस्य गृहे स्तोमं चनः दधीत) जिसके घरमें स्तोत्र और हव्यान्न ग्रहण करता है, उसका (हव्या वा विषः वेविषत्) हव्यादि पदार्थ सर्वत्र व्याप्त देवताओंको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

[१२६१] हे (सहसः यहो वसो) बलके पुत्र और सबके निवास करानेवाले अग्ने ! (स्तुवतः) स्तुति करनेवाले (विविदुषः) विशेष विद्वान् (वा रातिषु मक्षुतमस्य) और हविदान करनेमें अतिशीघ्रकारी कुशल तथा (विप्रस्य) ज्ञानी पुरुषके (वचः) स्तुतियोंको (अवो देवं उपरिमर्त्यं कृधि) देवोंसे नीचे और मनुष्योंसे ऊपर कर ॥ १२ ॥

[१२६२] (यः हव्यदातिभिः वा नमोभिः सुदक्षं अग्निं आविवासति) जो हव्य पदार्थोंसे और नमस्कारोंसे कुशल अग्निकी पूजा करता है, (वा गिरा, अजिरशोचिषं) तथा वाणी द्वारा स्तोत्र पाठसे न नाश होनेवाले दीप्तिसे युक्त अग्निकी सेवा करता है वह धन धान्यादि उत्तम पदार्थोंसे समृद्ध होता है ॥ १३ ॥

[१२६३] (यः मर्त्यः अदितिं अस्य निशिती समिधा दाशत्) जो मनुष्य अखण्डनीय इस अग्निके लिये अतितीक्ष्ण बुद्धिसे युक्त होकर समिधा प्रदान करता है (सः धामभिः धीभिः द्युम्नैः विश्वेत् जनान्) वह मनुष्य तेज-सामर्थ्योंसे, उत्तम कर्मोंके द्वारा ऐश्वर्यसे समस्त जनोंको (उद्नः इव तारिषत्) जलके समान पार कर जाता है। और (सुभगः) उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त होता है ॥ १४ ॥

[१२६४] हे (अग्ने) अग्ने ! तू अपने (तत् द्युम्नं आ भर) उस उज्ज्वल प्रकाश युक्त तेजको हमें भरपूर दे। (यत् सदने कंचित् अत्रिणं सासहत्) जो घरमें आये हुये किसी भी राक्षसको पराजित कर सके (दूढ्यः मन्युं) और पाप बुद्धिवाले मनुष्योंके क्रोधको भी नष्ट कर सकनेमें समर्थ हो ॥ १५ ॥

भावार्थ— यह अग्नि अत्यन्त रूपवान् और सबके द्वारा वरण करने योग्य है, इस अग्निमें जो हव्य डाले जाते हैं, वह सर्वत्र व्याप्त देवोंको पहुंचता है। हे अग्ने ! तू उत्तम ज्ञानी तथा प्रतिदिन हवि देनेवाले एवं स्तुति करनेवाले मनुष्यकी स्तुतियोंको देवोंकी वाणियोंसे भले ही ज्यादा महत्त्व न दे, पर साधारण मनुष्योंकी वाणियोंसे उसको महत्व अवश्य अधिक दे ॥ ११-१२ ॥

जो बुद्धि और भक्तिसे इस अमर और अखण्डनीय अग्निकी सेवा करता है, वह मनुष्य तेज, सामर्थ्य उत्तम कर्म और ऐश्वर्योंसे समस्त मनुष्योंसे ऊपर उठ जाता है और हर तरहके ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ १३-१४ ॥

इस अग्निके तेजसे वरुण, सूर्य और चन्द्रमा तथा दोनों अश्विनीकुमार एवं भग देवता प्रकाशित होते हैं और जिस तेजके कारण सभी खाऊ शत्रु विनष्ट होते हैं, उसे तेजसे युक्त होकर हम बलशाली हों और अपने मार्गोंको उत्तम बनानेमें समर्थ हों ॥ १५-१६ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२६५ येन चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमा येन नासत्या भगः ।
वयं तत् ते शवसा गातुवित्तमा इन्द्रत्वोता विधेमहि ॥ १६ ॥

१२६६ ते घेदग्ने स्वाध्यो३ ये त्वा विप्र निदधिरे नृचक्षसम् । विप्रासो देव सुक्रतुम् ॥ १७ ॥

१२६७ त इद् वेदिं सुभग त आहुतिं ते सोतुं चक्रिरे दिवि ।
त इद् वाजेभिर्जिग्युर्महद्धनं ये त्वे कामं न्येरिरे ॥ १८ ॥

१२६८ भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः । भद्रा उत प्रशस्तयः ॥ १९ ॥

१२६९ भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः ।
अव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः ॥ २० ॥

अर्थ— [१२६५] हे अग्ने ! तेरे (येन वरुणः मित्रः अर्यमा चष्टे) जिस तेजसे वरुण, मित्र और अर्यमा प्रकाशित होते हैं । और (येन नासत्या भगः) जिससे दोनों अश्विनौ और भजनीय अन्य देव प्रकाशित होते हैं, ऐसे (ते तत्) तेरे उस तेजको (शवसा गातुवित्तमाः) अपने बलसे अपने जाने योग्य मार्गको उत्तम बनानेवाले तथा (इन्द्र त्वोताः वयं) इन्द्र और तुझसे रक्षित होकर हम (विधेमहि) प्राप्त करें ॥ १६ ॥

[१२६६] (विप्र देव अग्ने) ज्ञानी और तेजस्वी अग्ने ! (ये विप्रासः) जो ज्ञानी ब्राह्मण (नृचक्षसं सुक्रतुं त्वा नि दधिरे) मनुष्योंके सब कर्मोंको देखनेवाले और उत्तम कर्म करनेवाले तुझे अपने हृदयोंमें धारण करते हैं, (ते घ इत् सु आध्यः) वे ही उत्तम रीतिसे सबसे श्रेष्ठ होते हैं ॥ १७ ॥

[१२६७] हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्यवाले अग्ने ! (ये त्वे कामं न्येरिरे) जो तुझमें अपनी कामनायें स्थापित करते हैं (ते इत् वेदिं चक्रिरे) वे ही तेरे लिये यज्ञ वेदी बनाते हैं । (त आहुतिं) वे तुझको आहुति प्रदान करते हैं । (ते दिवि सोतुं) तेज युक्त यज्ञमें तेरे लिये सोम रस निकालते हैं । इस प्रकार पुरुषार्थ करनेवाले (ते इत् वाजेभिः महत् धनं जिग्युः) वे ही बल पराक्रमसे बडे भारी धनको जीतते हैं ॥ १८ ॥

[१२६८] (आहुतः अग्निः नः भद्रः) हविसे तर्पित अग्नि हमारे लिये कल्याणकारी हो । उसका दिया हुआ (रातिः भद्रा) दान हमारे लिए मंगलकारी हो । हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्यशालिन् अग्ने ! हमारा (अध्वरः भद्रः) यज्ञ सुखप्रद हो । (उत प्रशस्तयः भद्राः) और उत्तम स्तुतियाँ भी कल्याण करनेवाली हों ॥ १९ ॥

[१२६९] हे अग्ने ! (येन समत्सु सासहः) जिस मनसे तू संग्राममें अपने शत्रुओंको पराजित करता है । (भद्रं मनः वृत्रतूर्ये कृणुष्व) उसी प्रकारका कल्याणकारी शोभन मेरा मन भी दुष्टोंको नाश करनेवाले इस संग्राममें कर । और (शर्धतां भूरि स्थिरा अव तनुहि) हिंसक शत्रुओंके अधिक दृढ सैन्योंको भी पराजित कर जिससे हम (अभिष्टिभिः ते वनेम) अभिलषित सुखोंसे युक्त होकर तेरी सेवा करें ॥ २० ॥

भावार्थ— यह अग्नि मनुष्यके अन्दर रह कर उसके सभी कर्मोंका निरीक्षण करता है तथा स्वयं भी उत्तम कर्म करता हुआ दूसरोंको भी उत्तम कर्म करनेकी प्रेरणा देता है । जो हमेशा उस अग्निका ध्यान करते हुए उत्तम कर्म करते हैं वे ही श्रेष्ठ होते हैं ॥ १७ ॥

हे अग्ने ! जो यह समझते हैं कि तेरे प्रसन्न होने पर ही उनकी कामनायें पूरी होंगी, वे ही वेदि बनाकर उसमें तुझे प्रदीप्त करके तुझे आहुति देते हैं, वे ही सोम रस निचोडते हैं । उन्हींका तू कल्याण करता है, तेरे द्वारा दिया गया धन भी उन्हींका कल्याण करता है, यज्ञ भी उनके लिए सुखप्रद होता है और स्तुतियाँ भी उनका कल्याण करती हैं, ऐसे मनुष्य ही ऐश्वर्योंको जीतते हैं ॥ १८–१९ ॥

युद्धोंमें अपने मनको दृढ करके शत्रुओंसे युद्ध करना चाहिए और उनको पराजित करना चाहिए । यदि मनमें साहस हो तो दृढसे दृढ शत्रुसेनाका भी नाश किया जा सकता है । मनुष्य अपने मनकी संकल्पशक्तिसे कठिनसे कठिन कार्य भी आसानीसे कर सकता है । पर यह संकल्पशक्ति तभी बढ सकती है, जब मनुष्य उस तेजस्वी परमात्माका ध्यान करे ॥२०॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२७० ईळे गिरा मनुर्हितं यं देवा दूतमरतिं न्येरिरे । यजिष्ठं हव्यवाहनम् ॥ २१ ॥

१२७१ तिग्मजम्भाय तरुणाय राजते प्रयो गायस्यग्नये ।
यः पिंशते सूनृताभिः सुवीर्यं—मग्निर्घृतेभिराहुतः ॥ २२ ॥

१२७२ यदी घृतेभिराहुतो वाशीमग्निर्भरत उच्चावं च । असुर इव निर्णिजम् ॥ २३ ॥

१२७३ यो हव्यान्यैरयता मनुर्हितो देव आसा सुगन्धिना ।
विवासते वार्याणि स्वध्वरो होता देवो अमर्त्यः ॥ २४ ॥

१२७४ यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः । सहसः सूनवाहुत ॥ २५ ॥

अर्थ— [१२७०] (यं यजिष्ठं हव्यवाहनं दूतं अरतिं देवाः न्येरिरे) जिस अतिपूज्य, उत्तम अन्नको ग्रहण करके ले जानेवाले, देवोंके दूत और ऐश्वर्यवान् अग्निको विद्वान् लोग स्तुति द्वारा प्रेरित करते हैं। ऐसे (मनुः हितं गिरा इळे) मनुष्योंके हितकारी उस अग्निकी मैं भी वाणीके द्वारा स्तुति करता हूँ ॥ २१ ॥

[१२७१] हे मनुष्य ! (यः) जो तू (तिग्मजम्भाय राजते अग्नये) तीक्ष्ण दाढवाले तथा प्रकाशमान् अग्निके लिए (प्रयः गायसि) आनन्दसे स्तोत्र गाता है, वह (सूनृताभिः घृतेभिः आहुतिः अग्निः) उत्तम स्तुतियों एवं घीसे आहुति हुआ अग्नि तुझे (सुवीर्यं पिंशते) उत्तम बलसे संयुक्त करता है ॥ २२ ॥

[१२७२] (घृतेभिः आहुतः अग्निः यदि उच्च च अव वाशीं भरते) घृत धाराओंसे आहुति प्राप्त कर अग्नि जब ऊपर और नीचेके स्थानोंको अपने शब्दोंसे भर देता है, तब वह (असुरः इव निर्णिजं) महा पराक्रमी सूर्यके समान अपने तेजको प्रकट करता है ॥ २३ ॥

[१२७३] (यः मनुः हितः देवः सुगन्धिना आसा हव्यानि ऐरयत) जो अग्नि स्वयं मनुष्योंका हित करनेवाला, दिव्य गुण युक्त, और अपने शोभन गन्धवाले मुखसे हव्योंको देवोंके प्रति पहुँचाता है; तथा जो (सु अध्वरः होता देवः अमर्त्यः) तथा जो सुन्दर और हिंसारहित कर्मोंको करनेवाला देवोंको बुलानेवाला, तेजस्वी और अविनाशी है। वह अग्नि (वार्याणि विवासते) वरण करने योग्य श्रेष्ठ धनोंको प्रदान करता है ॥ २४ ॥

[१२७४] हे (सहसः सूनो, आहुतः मित्रमहः) बलके पुत्र, उपासना योग्य और मित्रके समान पूजनीय अग्ने ! (मर्त्यः अहं यत् त्वं) मरणधर्मवाला मैं यदि तेरी उपासना करूं तो (अमर्त्यः स्यां) मैं भी अमर हो जाऊं ॥ २५ ॥

भावार्थ— यह अग्नि अति पूज्य, देवोंका दूत और मनुष्योंका हित करनेवाला है। ऐसे उत्तम ज्वालाओंवाले तेजस्वी अग्निको जो प्रदीप्त करता है और उसके लिए आनन्दसे स्तोत्र गाता है, वह अग्निके तेज और बलसे युक्त होता है ॥२१–२२॥

जब अग्निमें घृतकी आहुतियां दी जाती हैं, तब यह इतने जोरसे प्रज्वलित होता है, कि इसके जलनेके शब्दसे सारी जगह भर जाती है और तब यह दूरसे भी सूर्यके समान चमकता दिखाई देता है। प्रकार वह प्रदीप्त होकर वह मनुष्योंका हित करता और अपनी ज्वालाओंसे वह हवियोंको देवोंतक पहुंचाता है। वह हमेशा हिंसारहित कर्मोंको करता और तेजस्वी तथा अविनाशी है। ऐसा अग्नि श्रेष्ठ धनोंको प्रदान करता है ॥ २४ ॥

जो मनुष्य इस अमर अग्निकी उपासना करता है, वह मनुष्य भी अमर हो जाता है। जो हमेशा उत्तम पुरुषों और ज्ञानियोंकी संगतिमें रहता है, वह भी उत्तम और ज्ञानी होता है ॥ २५ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२७५ न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया ॥ २६ ॥

१२७६ पितुर्न पुत्रः सुभृतो दुरोण आ देवाँ एतु प्र णो हविः ॥ २७ ॥

१२७७ तवाहमग्न ऊतिभिर्नेदिष्ठाभिः सचेय जोषमा वसो । सदा देवस्य मर्त्यः ॥ २८ ॥

१२७८ तव क्रत्वा सनेयं तव रातिभिरग्ने तव प्रशस्तिभिः ।
त्वामिदाहुः प्रमतिं वसो मम अग्ने हर्षस्व दातवे ॥ २९ ॥

१२७९ प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तिरते वाजभर्मभिः । यस्य त्वं सख्यमावरः ॥ ३० ॥

अर्थ— [१२७५] हे (वसो) सबको बसानेवाले अग्ने ! मैं (त्वा अभिशस्तये न रासीय) तेरी किसी हिंसात्मक कर्म करनेके लिए] स्तुति न करूं, (पापत्वाय न) किसी पाप कर्म करनेके लिए तेरी स्तुति न करूं। हे (सन्त्य) पूज्य ! (मे स्तोता अमतीवा न) मेरा स्तोता बुरी बुद्धिवाला न हो, (न दुर्हितः स्यात्) हमारा कोई शत्रु न हो, हे (अग्ने) अग्ने ! (न पापया) वह हमें पापसे दुःख न दे ॥ २६ ॥

[१२७६] (नः पितुः पुत्रः सुभृतः) जिस प्रकार पितासे पुत्र अच्छी प्रकारसे पालन पोषण करने योग्य होता है, उसी प्रकार हमसे धारण करने योग्य यह अग्नि (दुरोणे देवान् आ नः हविः प्र एतु) यज्ञगृहमें देवोंकी ओर हमारी हविको अच्छी प्रकारसे ले जाये ॥ २७ ॥

[१२७७] हे (वसो अग्ने) सब प्राणियों और लोकोंको बसानेहारे अग्ने ! (देवस्य तव नेदिष्ठाभिः ऊतिभिः) उत्तम गुणोंसे युक्त तेरी अति समीपतम रक्षाओंसे सुरक्षित होकर (मर्त्यः अहं) मरणधर्मवाला मैं (सदा जोषं आ सचेय) तेरी प्रसन्नताको प्राप्त करूं ॥ २८ ॥

[१२७८] हे (अग्ने) उत्तम कर्म अर्थात् यज्ञसे युक्त होऊं (तव रातिभिः) तेरे दानोंसे मैं युक्त होऊं। और (तव प्रशस्तिभिः) तेरी प्रशंसाओंसे मैं युक्त होऊं। हे (वसो) सबको बसानेवाले ! ज्ञानीजन (त्वामित् प्रमतिं आहुः) तुझको ही सबसे उत्कृष्ट और ज्ञानवाला बतलाते हैं। अतः हे (अग्ने) अग्ने ! (मम दातवे हर्षस्व) मुझे देनेके लिये प्रसन्न हो ॥ २९ ॥

[१२७२] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं यस्य सख्यं आवरः) तू जिसके मित्रभावको स्वीकार करता है (सः वाजभर्मभिः सुवीराभिः तव ऊतिभिः) वह मनुष्य ज्ञान, बल और अन्नादिसे भरण पोषण करनेवाली तथा उत्तम वीरोंका संरक्षण करनेवाली तेरी रक्षाओंके द्वारा (प्रतिरते) विशेष रूपसे बढता है ॥ ३० ॥

१ त्वं यस्य सख्यं आवरः प्रतिरते— तू जिसके साथ मित्रता करता है, वह बढता है।

भावार्थ— हे अग्ने ! किसी बुरे काम, हिंसा या पापकर्म करनेके लिए तेरी सहायताकी इच्छा न करें और न उन कामोंके लिए तेरी स्तुति ही करें। मेरी स्तुति करनेवाला बुद्धिहीन न हो, तथा कोई भी हमारा शत्रु हमें कष्ट न दे ॥ २६ ॥

जिस प्रकार पुत्र पिताके द्वारा सदा पालन और पोषणके योग्य होता है, उसी प्रकार यह अग्नि मनुष्यों द्वारा पोषणीय है। यह अग्नि पुष्ट होकर देवों अर्थात् शरीरस्थ इन्द्रियोंतक हवि या जीवनरस पहुंचाता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके पुष्ट होने पर मनुष्य हमेशा स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है ॥ २७-२८ ॥

हे अग्ने ! मैं तेरी सेवा हमेशा करता रहूँ, तुझे हमेशा हवि देता रहूँ, तेरी स्तुति सदा करता रहूँ, क्योंकि तू उत्तम बुद्धिवाला है। मैं यह जानता हूँ कि तू जिसके साथ मित्रता करता है, उस मनुष्यको तू प्रसन्न होकर धन देता है और उसकी रक्षा करके तू उसे हर तरहसे बढाता है ॥ २९-३० ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२८० तवं द्रप्सो नीलवान् वाश ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा ददे ।
त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि ॥ ३१ ॥

१२८१ तमागन्म सोभरयः सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे । सम्राजं त्रासदस्यवम् ॥ ३२ ॥

१२८२ यस्य ते अग्ने अन्ये अग्नयः उपक्षितो वया इव ।
विपो न द्युम्ना नि युवे जनानां तवं क्षत्राणि वर्धयन् ॥ ३३ ॥

(८ । १०३ । १-१३) बृहती; ५ विराड्रूपा; ६, ९, ११, १३ सतोबृहती; ८, १२, ककुप्; १० ह्रसीयसी ।

१२८३ अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
उषो षु जातमार्यस्य वर्धन—मग्निं नक्षन्त नो गिरः ॥ १ ॥

अर्थ— [१२८०] हे (सिष्णो) सबको जीवनसे सींचनेवाले अग्ने ! (द्रप्सः नीलवान् वाशः ऋत्वियः इन्धानः) ज्वालाओंवाले, नीले रङ्गके धुँयेवाले; कान्तिसे युक्त, ऋतु ऋतुमें यज्ञ करने योग्य, प्रकाशित होनेवाले, ऐसे (तव आददे) तेरे लिये हम आहुतियोंको प्रदान करते हैं (त्वं महीनां उषसां प्रियः असि) तू पूजाके योग्य और उषाओंका प्रिय है । तथा (क्षपः वस्तुषु राजसि) रात्रीमें वस्तुओंको प्रकाशित करता है ॥ ३१ ॥

[१२८१] (सोभरयः अवसे) उत्तम रीतिसे भरणपोषण करनेवाले हम लोग अपनी रक्षाके लिये, (सहस्र-मुष्कं सु-अभिष्टिं, सम्राजं, त्रासदस्यवं) हजारों तेजवाले, उत्तम अभिलाषावाले, सुन्दर रूपसे युक्त, दस्युओं अर्थात् चोर लुटेरे तथा अन्य दुष्कर्मियोंको कष्ट देनेवाले (तं आगन्म) उस अग्निको प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

त्रासदस्युः— यह अग्नि दुष्कर्मियोंको दण्ड देकर उन्हें भय पहुंचानेवाला है ।

[१२८२] हे (अग्ने) अग्ने ! (यस्य ते अन्ये अग्नयः वया इव उपक्षितः) जिस तेरी दूसरी अग्नियाँ वृक्षकी शाखाकी तरह तुझसे बल प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार मैं भी (तव जनानां क्षत्राणि वर्धयन्) तेरे मनुष्योंके बलों और धनोंकी वृद्धि करता हुआ (विपः न द्युम्ना नि युवे) अन्य स्तोताकी तरह बहुतसे धनों और यशोंको प्राप्त करूँ ॥ ३३ ॥

(ऋ० ८ । १०३ । १-१३)

[१२८३] (यस्मिन् व्रतानि आदधुः) जिस अग्निमें लोग अपने कर्मोंको स्थापित करते हैं । वह (गातुवित्तमः अदर्शि) हर उत्तम मार्गोंको उत्तमतासे जाननेवाला अग्नि दीखने लग गया है (आर्यस्य वर्धनं सुजातं) उस श्रेष्ठ जनोंको बढानेवाले और अच्छी प्रकारसे प्रदीप्त हुए (अग्निं नः गिरः उषो नक्षन्तः) अग्निको हमारी वाणियाँ अच्छी प्रकार प्राप्त हों ॥ १ ॥

भावार्थ— यह अग्नि अपनी उष्णतासे शरीरमें जीवन रसका संचार करता है । यह कान्तिसे युक्त, ऋतुके अनुसार काम करनेवाला तथा उषाओंका प्रिय है । अग्नि उषःकालमें प्रदीप्त किया जाता है, उस समय इस यज्ञाग्निकी किरण उदय होते हुए सूर्यकी किरणोंके साथ संयुक्त होती है । यह अग्नि दिनमें प्रकाशित होता ही है, पर रातमें भी प्रकाशित होता हुआ अन्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है ॥ ३१ ॥

यह अग्नि तेजस्वी, उत्तम रूपवान्, दुष्टोंको दण्ड देनेवाला है । वह अन्य अग्नियोंका पोषण करनेवाला है । मैं उस अग्निके भक्तोंकी उन्नति करता हुआ स्वयं भी उसकी कृपासे उन्नत होता जाऊं ॥ ३२-३३ ॥

जब अग्निरूपी सूर्य स्वयं द्युलोकके उच्चतम भागपर स्थित होकर अपनी तेजस्वी किरणोंको पृथ्वीपर भेजता है, तब सारे मार्ग प्रकाशित हो जाते हैं । उसी समय ज्ञानी जन अपने यज्ञादिक कर्म करने लगते हैं और उनकी स्तुति रूप वाणियां सूर्यके पास पहुंचने लगती हैं ॥ १-२ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२८४ प्र दैवोदासो अग्नि—र्देवाँ अच्छा न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि ॥ २ ॥

१२८५ यस्माद् रेजन्त कृष्टय—श्चर्कृत्यानि कृण्वतः ।
सहस्रसां मेधसातावि व त्मना अग्निं धीभिः सपर्यत ॥ ३ ॥

१२८६ प्र यं राये निनीषसि मर्तो यस्ते वसो दाशत् ।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥ ४ ॥

१२८७ स दृळ्हे चिदभि तृणत्ति वाज—मर्वता स धत्ते अक्षिति श्रवः ।
त्वे देवत्रा सदा पुरूवसो विश्वा वामानि धीमहि ॥ ५ ॥

अर्थ—[१२८४] (दैवोदासः अग्निः देवान्) तेज वा प्रकाश देनेवाला अग्नि अपनी किरणोंको (मातरं पृथिवीं) माता पृथ्वीके प्रति (मज्मना न प्र अच्छ विवावृते) बडे वेगके साथ सीधे भेजता है, और स्वयं (नाकस्य सानवि तस्थौ) द्युलोककी समुन्नत चोटीपर विराजमान हो जाता है ॥ २ ॥

१ आर्यस्य वर्धनः— यह अग्नि श्रेष्ठ आदमियोंको ही बढाता है।

[१२८५] (यस्मात् चर्कृत्यानि कृण्वतः कृष्टयः रेजन्ते) जिस कारणसे शुभ कर्म करनेवालेसे दूसरे उत्तम कर्म न करनेवाले भयसे काँपते हैं। इसलिये हे मनुष्यो! तुम सब भी (सहस्रसां अग्निं) सहस्रों प्रकारके धनोंको देनेवाले अग्निकी (मेधसातौ) यज्ञमें (त्मना धीभिः सपर्यत) अपने स्तोत्रोंसे सेवा करो जिससे तुम्हें भी किसीसे भयभीत होकर काँपना न पडे ॥ ३ ॥

[१२८६] हे (वसो अग्ने) सबको निवास देनेवाले अग्ने! तू (यं राये प्र निनीषसि) जिसको ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये सन्मार्गपर प्रेरित करनेकी इच्छा करता है, और (यः मर्तः ते दाशत्) जो मनुष्य प्रेरित होकर तुमको हव्यादि पदार्थ प्रदान करता है (सः उक्थशंसिनं सहस्रपोषिणं वीरं धत्ते) वह मनुष्य अपने लिये उत्तम वेदवचनोंके वक्ता, सहस्रोंके पोषक वीर पुत्रको धारण करता है ॥ ४ ॥

[१२८७] हे (पुरूवसो) बहुतसे धनोंके स्वामी अग्ने! जो मनुष्य तेरी स्तुति करता है, (सः दृळ्हे चित् वाजं अर्वता अभि तृणत्ति) वह दृढ शत्रुके मजबूत नगरमें भी रखे हुए अन्नको अपने अश्वसे नष्ट कर देता है। और (सः अक्षिति श्रवः धत्ते) वह अक्षय यश धारण करता है। अग्ने! (त्वे देवत्रा विश्वा वामानि सदा धीमहि) तुझ परम दानीके आश्रयमें रहकर हम भी सम्पूर्ण उत्तम धनोंको सर्वदा प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह अग्नि जिस मनुष्य उत्तम मार्गमें चलनेकी प्रेरणा देता है और जो मनुष्य इससे प्रेरित होकर अग्निको हवि आदि प्रदान करता है, वह वेद पढनेवाले तथा हजारोंके पोषण करनेवाले वीर पुत्रको प्राप्त करता है और तब उस उत्तम कर्म करनेवाले मनुष्यसे दूसरे बुरे कर्म करनेवाले मनुष्य डरते हैं। अतः मनुष्योंको चाहिए कि वे भी उस दानी अग्निकी सेवा किया करें ॥ ३–४ ॥

इस अग्निकी जो स्तुति करता है, वह शत्रुके मजबूत किलेमें भी रखे हुए अन्नको अपने घोडोंके द्वारा आक्रमण करके अपने अधिकारमें कर लेता है और इस प्रकार वह अक्षय यश प्राप्त करता है। उसके साथ ही वह सम्पूर्ण उत्तम धनोंको प्राप्त करता है। अतः जिस प्रकार पात्रके भर जाने पर उसमेंसे मीठा पदार्थ बहने लगता है, उसी प्रकार भक्त जनोंके हृदयसे उस अग्निके लिए मधुर मधुर स्तोत्र निकलने लगते हैं ॥ ५–६ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२८८ यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्यग्नये ॥ ६ ॥

१२८९ अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।
उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम् ॥ ७ ॥

१२९० प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे । उपस्तुतासो अग्नये ॥ ८ ॥

१२९१ आ वंसते मघवा वीरवद् यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः ।
कुवित्नो अस्य सुमतिर्नवीयसी अच्छा वाजेभिरागमत् ॥ ९ ॥

१२९२ प्रेष्ठं प्रियाणां स्तुह्यासावातिथिम् । अग्निं रथानां यमम् ॥ १० ॥

१२९३ उदिता यो निदिता वेदिता वसु आ यज्ञियो ववर्तति ।
दुष्टरा यस्य प्रवणे नोर्मयो धिया वाजं सिषासतः ॥ ११ ॥

अर्थ— [१२८८] (होता, मन्द्रः यः विश्वा वसु जनानां दयते) होता मंगलमय जो अग्नि सम्पूर्ण धनोंको मनुष्योंके लिये प्रदान करता है। ऐसे (अस्मै अग्नये) उस अग्निके लिये (मधोः न) मधुर पदार्थोंसे पूर्ण पात्रोंके समान (प्रथमानि स्तोमाः प्रयन्ति) सर्व श्रेष्ठ उत्तम स्तुति मन्त्र हमारे हृदयसे बाहर आते हैं ॥ ६ ॥

[१२८९] हे (दस्म विश्पते) दर्शनीय समस्त प्रजाओंके पालक अग्ने ! (सुदानवः देवयवः रथ्यं अश्वं न गीर्भिः मर्मृज्यन्ते) उत्तम दानशील, दिव्यगुणोंकी इच्छा करनेवाले मनुष्य रथ योग्य उत्तम अश्वोंको जिस प्रकार शुद्ध करते हैं उसी प्रकार तुझे स्तुतियोंसे शुद्ध करते हैं, तू हम सबके (उभे तोके तनये मघोनां राधः पर्षि) दोनों पुत्र पौत्रादिको धनवानोंका धन प्रदान कर ॥ ७ ॥

[१२९०] हे (उपस्तुतासः) स्तोताओ ! तुम लोग (मंहिष्ठाय ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे अग्नये) अत्यधिक पूजनीय, सत्य ज्ञानमय, महान्, शुद्धप्रकाश स्वरूप अग्निके लिये (प्र गायत) उत्तम स्तोत्रोंका गान करो ॥ ८ ॥

[१२९१] (मघवा द्युम्नी) ऐश्वर्ययुक्त और तेजस्वी अग्नि (आहुतः समिद्धः वीरवद्यशः आ वंसते) आदरपूर्वक बुलाये जानेपर और प्रदीप्त किए जानेपर पुत्रोंसे युक्त अन्न और यश मनुष्यको सब प्रकारसे प्रदान करता है। (अस्य नवीयसी सुमतिः वाजेभिः न कुवित् अच्छ आगमत्) इस अग्निकी बहुत उत्तम और स्तुतिके योग्य बुद्धि अन्नोंके साथ हमें बार बार अच्छी प्रकार प्राप्त हो ॥ ९ ॥

[१२९२] हे (आसावा) स्तोता लोगो ! (प्रियाणां श्रेष्ठं अतिथिं, रथानां यमं अग्निं) प्रियोंमें सर्व प्रिय और सबसे अधिक पूज्य सब चलने फिरनेवाले ग्रहोंके नियामक अग्निकी (उ स्तुहि) निश्चयसे स्तुति करो ॥ १० ॥

[१२९३] (धिया वाजं सिषासतः यस्य) अपने परिश्रमसे अन्नको जीतनेकी इच्छावाले जिस अग्रणीकी ज्वालाओंको (प्रवणे उर्मयः न) बहुत ऊंची उठनेवाली समुद्रकी तरंगोंकी तरह (दुस्तराः) पार करना कठिन है, तथा (यः वेदिता यज्ञियः) जो ज्ञानी और पूजनीय अग्नि (उदिता निदिता वसु आ ववर्वति) छिपे हुए और प्रकट धनोंको प्रदान करता है, उसकी स्तुति करो ॥ ११ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार लोग उत्तम अश्वोंको शुद्ध करते हैं उसी प्रकार इस अग्निको शुद्ध करते हैं। तब सत्यज्ञानमय यह अग्नि अत्यन्त पूजित होकर उपासकोंको हर तरहका ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥ ७–८ ॥

यह अग्नि प्रियोंमें भी अत्यन्त प्रिय और पूज्य तथा सम्पूर्ण विश्वका नियामक है। इस अग्निकी यदि सच्चे हृदयसे प्रार्थना की जाए, तो वह उत्तम बुद्धि और अनेक तरहके ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥ ९–१० ॥

जो अत्यधिक परिश्रम करके धन जीतता है, उसीकी पूजा होती है। उसके तेजको कोई पार नहीं कर सकता और वही सब तरहके धनोंको प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३५६ त्वमग्ने वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन् पिपर्षि विदथे विचर्षणे ।
यः शूरसाता परितक्म्ये धने दभ्रेभिश्चित् समृता हंसि भूयसः ॥ ६ ॥

३५७ त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे ।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥ ७ ॥

३५८ त्वं नो अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि स्तवानः ।
ऋध्याम कर्मापसा नवेन देवैर्द्यावापृथिवी प्रावतं नः ॥ ८ ॥

अर्थ— [३५६] हे (विचर्षणे अग्ने) विशिष्ट ज्ञानसे युक्त अग्ने ! (त्वं वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन् विदथे पिपर्षि) तू कुमार्गगामी मनुष्यकी भी अपने साथ रहनेपर युद्धमें सहायता करता है। और (यः परितक्म्ये धने शूरसाता दभ्रेभिः चित्) जो तू सब ओरसे आक्रमण होनेवाले, धन प्राप्त होनेवाले तथा शूरवीरोंसे युद्ध किये जाने योग्य संग्राममें थोडे वीरतायुक्त पुरुषोंके द्वारा (समृता भूयसः हंसि) अच्छी प्रकार युद्ध प्रारम्भ होनेपर बडे बडे वीरोंको भी मार देता है ॥ ६ ॥

१ वृजिनवर्तनिं नरं सक्मन् विदथे पिपर्षि— पापी मनुष्यको भी विद्वानोंके साथ संयुक्त करके उनकी युद्धमें रक्षा करता है ।

२ शूरसातौ दभ्रेभिः चित् भूयसः हंसि— शूरों द्वारा छेडे गए युद्धमें यह अग्रणी थोडेसे शत्रुओंको लेकर भी बहुतोंको मार देता है ।

[३५७] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं तं मर्तं) तुम इस उत्तम मनुष्यको (दिवे दिवे) प्रतिदिन (श्रवसे उत्तमे अमृतत्वे दधासि) यशस्वी बनाते हुए उत्तम अमरपदपर प्रतिष्ठित करते हो और (यः उभयाय जन्मने तातृषाणः) जो दोनों प्रकारके जन्मके लिये अतीव पिपासु हैं, उस (सूरये मयः प्रयः च आ कृणोषि) ज्ञानीके लिये सुख और अन्न सब ओरसे देते हो ॥ ७ ॥

१ मर्तं श्रवसे उत्तमे अमृतत्वे दधासि— यह अग्रणी यशके लिए उत्तम मनुष्यको अमर बनाता है ।

२ उभयाय जन्मने तातृषाणः सूरये मयः प्रयः च कृणोषि— ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दोनों जीवनोंमें उन्नतिकी इच्छा करनेवाले विद्वान्के लिए यह अग्रणी सुख और अन्न देता है। (मयः–सुख–प्रयः–सुख)

[३५८] हे (अग्ने) अग्ने ! (स्तवानः त्वं धनानां सनये) प्रशंसित होता हुआ तू धनोंके दानके लिये (नः यशसं कारुं कृणुहि) हमें यश और कर्म करनेका सामर्थ्य दे । (नवेन अपसा कर्म ऋध्याम) नये कर्मके द्वारा हम यज्ञकर्मकी वृद्धि करें । (द्यावापृथिवी ! देवैः नः प्रावतं) हे द्यु और पृथ्वी लोक ! सब देवोंके साथ हमारी सुचारु-रूपसे रक्षा करो ॥ ८ ॥

१ धनानां सनये यशसं कारुं कृणुहि— यह अग्रणी लोगोंको धनकी प्राप्तिके लिए यश देनेवाली कारीगरीकी विद्या प्रदान करता है ।

भावार्थ— यह अग्रणी दुराचारी मनुष्यको भी अपनी सहायता देकर सुधारता है। तथा युद्धमें चुने हुए वीरोंको लेकर बडीसे बडी शत्रुसेनाको भी हरा देता है । यह अग्रणी इतना वीर है ॥ ६ ॥

उत्तम मनुष्य ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दोनों जीवनोंमें सुख और अन्न प्राप्त कर अन्तमें अमरपद प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

कारीगरी सदा यश प्रदान करनेवाली होती है। मनुष्य कारीगरीसे धन प्राप्त कर सकता है। जिस देशमें कारीगर ज्यादा होते हैं, वह देश धनधान्य सम्पन्न होता है ॥ ८ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF.

३५९ त्वं नो अग्ने पित्रोरुपस्थ आ देवो देवेष्वनवद्य जागृविः ।
तनूकृद् बोधि प्रमतिश्च कारवे त्वं कल्याण वसु विश्वमोपिषे ॥ ९ ॥
३६० त्वमग्ने प्रमतिस्त्वं पितासि नस् त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम् ।
सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य ॥ १० ॥
३६१ त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन् नहुषस्य विश्पतिम् ।
इळामकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत् पुत्रो ममकस्य जायते ॥ ११ ॥

अर्थ— [३५९] हे (अनवद्य अग्ने) दोषोंसे रहित अग्ने ! (देवेषु जागृविः देवः त्वं) सब देवोंके मध्य जागरूक रहनेवाला देव तू (पित्रोः उपस्थे नः तनूकृत् आ बोधि) हमारे माता पिताकी सहायतासे हमारे शरीरका निर्माण करता है और हमें ज्ञानवान् बनाता है। (कारवे प्रमतिः च) कर्म करनेके लिए विशेष बुद्धि देकर, हे (कल्याण) कल्याण करनेवाले अग्ने ! (त्वं विश्वं वसु ओपिषे) तू हमें सम्पूर्ण धन प्रदान कर ॥ ९ ॥

१ देवेषु जागृविः— यह अग्रणी देवोंमें हमेशा जागता रहता है ।

२ कल्याण ! विश्वं वसु ओपिषे— यह अग्रणी कल्याण करनेवाला, धन प्रदान करनेवाला और सबको निवासकी सुविधा देनेवाला है ।

[३६०] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं प्रमतिः) तू विशेष बुद्धिमान् है, (त्वं नः पिता असि) तू हमारा पिता है, (त्वं वयस्कृत्) तू आयुको देनेवाला है, (वयं तव जामयः) हम तेरे बन्धु हैं। हे (अदाभ्य) किसीसे भी हिंसित न होनेवाले अग्ने ! (सुवीरं व्रतपां त्वा शतिनः सहस्रिण रायः संयन्ति) अच्छे वीरोंसे युक्त और नियमोंका पालन करनेवाले तुझको सैंकडों और हजारों तरहके धन प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

१ व्रतपां सुवीरं सहस्रिणः रायः यन्तिः— नियमके पालन करनेवाले तथा उत्तम पुत्रवाले मनुष्यको अनेक प्रकारके ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं ।

२ अ-दाभ्यः— वह अग्रणी किसीसे न दबनेवाला है ।

[३६१] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वां देवाः आयवे प्रथमं आयुं) तुझको देवोंने प्रथम आयु दी, पश्चात् उन्होंने (नहुषस्य विश्पतिं अकृण्वन्) मानवोंके लिये प्रजापालक राजाका निर्माण किया। तब (मनुषस्य शासनीं इळां अकृण्वन्) मनुष्योंकी व्यवस्थाके लिये धर्मनीतिका निर्माण किया। (यत् ममकस्य पितुः पुत्रः जायते) जैसे पितासे ममत्वरूप पुत्रका जन्म होता है वैसे ही आत्मीयतासे राजा प्रजाका पुत्रवत् पालन करे ॥ ११ ॥

१ देवाः आयवे आयुं अकृण्वन्— देवोंने मानवोंके लिए आयु बनाई ।

२ विश्पतिं अकृण्वन्— प्रजाके पालकको उत्पन्न किया ।

भावार्थ— यह हमेशा जागरूक रहनेवाला अग्रणी सबको बुद्धि प्रदान कर उन्हें कर्म करनेकी प्रेरणा देता है। इस प्रकार वह सबका कल्याण करता है ॥ ९ ॥

वह अग्रणी प्रभु हमारा माता, पिता, भाई है, वह सर्वशक्तिमान् हर तरहके ऐश्वर्योंसे युक्त है, वह अपने भक्तको भी हर तरहके ऐश्वर्य प्रदान करता है ॥ १० ॥

प्रथम सब मनुष्य उत्पन्न हुए, फिर उनका पालन करनेके लिए राजाका चुनाव किया गया। उसने तथा अन्य प्रजा-प्रतिनिधियोंने मिलकर व्यवस्थाके लिए धर्म और नीतिका निर्माण किया, ताकि उन नियमोंके अनुसार चलता हुआ राजा प्रजाका पुत्रवत पालन करे। इस मंत्रमें समाजव्यवस्थाका बहुत सुन्दर वर्णन है ॥ ११ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३६२ त्वं नो अग्ने तव देव पायुभि—र्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य ।
त्राता तोकस्य तनये गवाम—स्यनिमेषं रक्षमाणस्तव व्रते ॥ १२ ॥

३६३ त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरो ऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे ।
यो रातहव्यो ऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन् मन्त्रं मनसा वनोषि तम् ॥ १३ ॥

३६४ त्वमग्न उरुशंसाय वाघते स्पार्हं यद् रेक्णः परमं वनोषि तत् ।
आध्रस्य चित् प्रमतिरुच्यसे पिता प्र प्राकं शास्सि प्र दिशो विदुष्टरः ॥ १४ ॥

अर्थ— [३६२] हे (वन्द्य अग्ने देव) वन्दनीय अग्नि देव ! (त्वं तव पायुभिः मघोनः नः तन्वः च रक्ष) तू अपनी संरक्षण शक्तिसे हमें धनवान् बनाकर हमारे शरीरोंकी सुरक्षा कर । (तव व्रते अनिमेषं रक्षमाणः) तेरे नियममें हमेशा रहनेवालेकी सदा रक्षा करनेवाला तू (तोकस्य तनये गवां त्राता असि) हमारे बालबच्चों तथा गौवोंकी रक्षा कर ॥ १२ ॥

१ तव पायुभिः मघोनः तन्वः तोकस्य रक्ष— अपनी शक्तियोंसे हमें धनवान् बनाकर हमारे तथा हमारे पुत्रोंके शरीरोंकी रक्षा करो ।

[३६३] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं यज्यवे पायुः) तू यज्ञ करनेवालेका संरक्षक है। (अनिषङ्गाय अन्तरः चतुः अक्षः इध्यसे) सङ्गरहित होकर कार्य करनेवालेके हितके लिये पास रहकर चारों ओर अपनी आँखें रखते हुआ तू तेजस्वी होकर उसका रक्षक होता है । (अवृकाय धायसे रातहव्यः) अहिंसक और पोषकके लिये जो अन्नदान करता है, उस (कीरे चित् तं मन्त्रं मनसा वनोषि) कविके उस मन्त्रको तू मनसे स्वीकार करता है ॥ १३ ॥

१ यज्यवे पायुः— यज्ञ करनेवालेकी रक्षा करता है ।

२ अ-वृकाय धायसे रातहव्यः— किसीकी हिंसा न करनेवाले और दूसरोंके पोषण करनेवालेको तू अन्न देता है ।

[३६४] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं उरुशंसाय वाघते स्पार्हं परमं यत् रेक्णः तत् वनोषि) तू बहुत प्रशंसा करनेवाले ऋत्विक् यजमानके लिये जो जो इच्छा करने योग्य धन है वह सब इकट्ठा करता है अर्थात् उनको देता है । (आध्रस्य चित् प्रमतिः पिता उच्यसे) दुर्बलके लिये भी उत्तम बुद्धि प्रदान करनेके कारण तुझे सब पिता कहते हैं । तू (विदुष्टरः पाकं दिशः प्र प्र शास्सि) अधिक ज्ञानवान् है, अतः अज्ञानीको सब दिशायें दर्शाता है अर्थात् अच्छी शिक्षा देता है ॥ १४ ॥

१ उरुशंसाय वाघते परमं स्पार्हं रेक्णः वनोषि— यह अग्रणी भक्तको देनेके लिए उत्तम धन ग्रहण करता है ।

२ आध्रस्य प्रमतिः— अज्ञानीके लिए उत्तम बुद्धि देता है ।

३ पाकं दिशः प्रशास्सि— यह अग्रणी अज्ञानियोंको ज्ञान और उन्नतिकी दिशा दिखाता है ।

भावार्थ— यह अग्नि देव अपने सामर्थ्यसे हमारे शरीरोंकी रक्षा करता है। शरीरमें उष्णता पैदा कर शरीरकी स्थिति रखता है, इसीलिए इसे 'तनू-न-पात्' भी कहते हैं । नियमोंमें रहकर जो व्यक्ति इस अग्निका सामर्थ्य बढाता है, वह स्वस्थ एवं नीरोग रहकर दीर्घायु प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

यज्ञ करनेसे शरीर स्वास्थ्यकी रक्षा होती है। दूसरोंकी हिंसा न करनेवाले दानशीलको ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

यह अग्रणी देव स्तुति करनेवालेको धन प्रदान करता है। अज्ञानियोंको विद्वान् बनाकर उन्हें उन्नत करता है, इसीलिए सब लोग उसे पालनकर्ता कहते हैं ॥ १४ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३६५ त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः ।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज् जीवयाजं यजते सोपमा दिवः ॥ १५ ॥

३६६ इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात् ।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन् मर्त्यानाम् ॥ १६ ॥

३६७ मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे ।
अच्छ याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ— [३६५] हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वं प्रयतदक्षिणं नरं) तू प्रयत्नशील मानवके लिये दान देनेवाले नेताको ठीक तरह (स्यूनं वर्म इव विश्वतः परिपासि) सिये हुए कवचके समान सब ओरसे सुरक्षित रखता है। (स्वादुक्षद्मा वसतौ स्योनकृत्) जिस घरमें जो गृहस्वामी मीठा अन्न तैयार करके अपने घरमें अतिथियोंको सुख देता और जो (यः जीवयाजं जयते) जीवोंके हितके लिए यज्ञ करता है (सः दिवः उपमा) वह घर स्वर्गकी उपमाके योग्य होता है ॥ १५॥

१ प्रयतदक्षिणं नरं विश्वतः परिपासि— प्रयत्नसे उत्तम कर्म करनेवालेके लिए जो योग्य दक्षिणा देत है, उस नेता अथवा मनुष्यकी तू चारों ओरसे सुरक्षा करता है ।

२ स्वादुक्षद्मा वसतौ स्योनकृत्, यः जीवयाजं यजते स दिवः उपमा— जिस घरमें अतिथियोंके लिए हमेशा स्वादिष्ट पदार्थ तैयार रहते हैं, तथा जीवोंके हितके लिए यज्ञ किया जाता है, वह घर स्वर्गसदृश ही है।

[३६६] हे (अग्ने) अग्ने ! तू (नः इमां शरणिं मीमृषः) हमारी इस त्रुटिको क्षमा कर, क्योंकि हम (दूरात् यं इमं अध्वानं अगाम) इस समय तक दूर दूर भटकते रहे थे पर अब इस धर्म मार्ग पर आ गये हैं। तू (सोम्यानां मर्त्यानां आपिः पिता प्रमतिः भृमिः ऋषिकृत् असि) शान्त स्वभाववाले मानवोंके बन्धु पिता, सुबुद्धि देनेवाले शीघ्रतासे कार्य करनेवाले और ऋषियोंके भी निर्माण करनेवाला है ॥ १६ ॥

१ दूरात् इमं अध्वानं अगाम नः इमां शरणिं मीमृषः— हम अपने अधर्मके मार्गसे हटकर धर्म मार्ग पर आगए हैं अतः अब हमारी त्रुटियोंको क्षमा करो ।

२ सोम्यानां मर्त्यानां पिता असिः— यह अग्रणी देव शान्त और अकुटिल स्वभाववालोंका पालक है ।

[३६७] हे (शुचे अङ्गिरः अग्ने) शुद्ध अङ्गिरा अग्ने ! तू (मनुष्वत् अङ्गिरस्वत् ययातिवत् पूर्ववत् सदने अच्छ याहि) मनु, अङ्गिरा, ययाति और पूर्व पुरुषोंके समान यज्ञस्थानमें सीधे जा । वहां (दैव्यं जनं आ वह) दिव्यजनोंको ले आ, उनको (बर्हिषि आसादय) आसनोंपर बिठा और उन्हें (प्रियं यक्षि च) प्रिय अन्न प्रदान कर ॥ १७॥

१ दैव्यं जनं आवह— यह अग्रणी दिव्यजनोंको आगे बढाता है ।

भावार्थ— दान सदा प्रयत्नशील मनुष्यको ही देना चाहिए, ताकि किया हुआ दान सत्कर्ममें लगाया जावे । घरोंमें हमेशा अतिथिका सत्कार होना चाहिए और यज्ञ भी प्रतिदिन करना चाहिए । ऐसे घर स्वर्गके समान होते हैं और हमेशा देवों द्वारा सुरक्षित रहते हैं ॥ १५ ॥

परमात्माकी प्रार्थनासे मनुष्य अधर्म मार्गसे हटकर धर्म मार्ग पर चलता है और तब उस अकुटिल मनुष्यकी परमात्मा रक्षा करता है और उसे ज्ञानी बनाता है ॥ १६ ॥

यज्ञमें सब बुलाये जाएं और उनमें जो दिव्य और ज्ञानी पुरुष हों, उन्हें प्राधान्यता देकर उन्हें अन्नादि प्रदान किया जाए ॥ १७ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३६८ एतेनाग्ने ब्रह्मणा वावृधस्व शक्ती वा यत् ते चकृमा विदा वा ।
उत प्र णेष्यभि वस्यो अस्मान् त्सं नः सृज सुमत्या वाजवत्या ॥ १८ ॥

(३२)

(ऋषिः- हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।)

३६९ इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ १ ॥

३७० अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ २ ॥

३७१ वृषायमाणो ऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत् सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— [३६८] हे (अग्ने) अग्ने ! (एतेन ब्रह्मणा वावृधस्व) इस स्तोत्रसे तेरा यश बढता रहे । अपनी (शक्ती या विद्या वा यत् ते चकृमः) शक्तिसे और ज्ञानसे जो यह तेरा पूजन हमने किया है उससे (अस्मान् वस्यः प्रणेषि) हमें धनके पास पहुंचा । (उत नः वाजवत्या सुमत्या संसृज) और हमें बल बढावेवाले अन्नसे सम्पन्न करके शोभनमतिसे भी संयुक्त कर ॥ १८ ॥

[३२]

[३६९] (वज्री) वज्रधारी इन्द्रने (यानि प्रथमानि वीर्याणि चकार) जो पहिले पराक्रम किये थे (इन्द्रस्य नु प्र वोचं) इन्द्रके उन्हीं पराक्रमोंका हम वर्णन करते हैं (अहिं अहन्) उसने अहिका वध किया (अनु अपः तर्दर्द) पश्चात् जलप्रवाहोंको खुला किया (पर्वतानां वक्षणाः प्र अभिनत्) और पर्वतोंमेंसे नदियोंका मार्ग खोदकर विशाल किया ॥ १ ॥

[३७०] (पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन्) पर्वतपर आश्रय करनेवाले अहिका वध इन्द्रने किया (त्वष्टा अस्मै स्वर्यं वज्रं ततक्ष) त्वष्टा कारीगरने उसके लिये शत्रुपर उत्तम रीतिसे फेंकने योग्य दूरसे वेध करनेवाला वज्र बनाया था (धेनव वाश्राः इव) तब गौवें जैसी हम्बारव करती हुई अपने बच्चेकी ओर दौडती हैं वैसे ही, (स्यन्दमाना आपः) दौडनेवाले जल-प्रवाह (समुद्रं अञ्जः अव जग्मुः) समुद्रके पास वेगसे जाने लगे ॥ २ ॥

[३७१] (वृषायमाणः) बलवान् इन्द्रने (सोमं अवृणीत) सोमको स्वीकार किया (त्रिकद्रुकेषु सुतस्य अपिबत्) तीन पात्रोंमें रखे हुए रसका पान किया (मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त) धनवान् इन्द्रने बाण और वज्रको हाथमें पकडा (अहीनां प्रथमजां एनं अहन्) और अहियोंमेंसे इस मुखियाका वध किया ॥ ३ ॥

भावार्थ— भक्त अपनी शक्ति एव ज्ञानसे परमात्माकी भक्ति करे । धन-धान्य आदि सम्पत्ति प्राप्त करनेका एक मात्र उपाय परमात्माकी प्रार्थना ही है ॥ १८ ॥

इन्द्रने अहिको मारा, पानी बहाया, पर्वतोंसे नदियां बहायीं । पर्वतोंपरका बर्फ पिघलनेसे सिन्धु गंगा आदि नदियोंका बहना प्रत्यक्ष दीखता है । इस प्रकार नदियोंको बहाना इन्द्रका पराक्रम है ॥ १ ॥

कारीगर त्वष्टाने शत्रुपर उत्तम प्रकारसे फेंके जाने योग्य वज्रको बनाया, उससे इन्द्रने पर्वतपर रहनेवाले अहिनामक शत्रुका वध किया । तब उसके वध होनेपर जलप्रवाह ऐसे बह निकले जैसे रंभाते हुए बछडे अपनी मांकी तरफ दौडते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रने सोमपानसे उत्साहित होकर अहिनामक असुरजातिके मुख्य मुख्य चुने हुए वीरोंको मारा । इसके अलावा और जितने षड्यंत्रकारी थे उनका भी नाश किया । इसी प्रकार सावधानीसे शत्रुओंकी कपटयुक्तिको जानकर उनका नाश करना चाहिए ॥ ३ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३७२ यदिन्द्राहन् प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः ।
आत् सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से ॥ ४ ॥

३७३ अहन् वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाऽहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः ॥ ५ ॥

३७४ अयोद्धेव दुर्मद आ हि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम् ।
नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ॥ ६ ॥

३७५ अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान ।
वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन् पुरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥ ७ ॥

अर्थ— [३७२] (उत इन्द्र) और हे इन्द्र ! (यत् अहीनां प्रथमजां अहन्) जब अहियोंमेंसे प्रमुख वीरका वध किया (आत् मायिनां मायाः प्र अमिनाः) तब कपटियोंके कपटमय षड्यंत्रोंका भी विनाश किया (आत् द्यां उषासं सूर्यं जनयन्) पश्चात् आकाशमें उषा और सूर्यको प्रकट किया (तादीत्ना शत्रुं न विवित्से किल) तब तुम्हारे लिये कोई शत्रु निःसंदेह नहीं रहा ॥ ४ ॥

[३७३] (इन्द्रः) इन्द्रने (महता वधेन वज्रेण) बडे घातक शस्त्रसे (वृत्रतरं वृत्रं) बडे घेरनेवाले वृत्रका (व्यंसं, अहन्) उसके बाहु काटनेके पश्चात् वध किया (कुलिशेन विवृक्णा स्कन्धांसि इव) कुल्हाडेसे छेदे गये वृक्षकी शाखाओंकी तरह (अहिः पृथिव्याः उपपृक् शयते) वह अहि पृथ्वीके ऊपर पडा हुआ है ॥ ५ ॥

[३७४] (दुर्मदः अयोद्धा इव) महा घमण्डी और अपनेको अप्रतिम योद्धा माननेवाले वृत्रने (महावीरं तुविबाधं ऋजीषं) महावीर, बहुत शत्रुओंका प्रतिबंध करनेवाले शत्रुनाशक इन्द्रको (आ जुह्वे हि) आह्वान देकर युद्धके लिये बुलाया, पर पश्चात् (अस्य वधानां समृतिं न अतारीत्) इस इन्द्रके आघातोंका सामना वह कर नहीं सका (इन्द्रशत्रुः रुजानाः सं पिपिषे) पश्चात् इन्द्रके शत्रु वृत्रने नदियोंको भी स्वयं गिरते गिरते तोड डाला ॥ ६ ॥

[३७५] (अपात् अहस्तः) पांव और हाथ कट जानेपर भी वृत्रने (इन्द्रं अपृतन्यत्) इन्द्रसे युद्ध करना चाहा (अस्य सानौ अधि वज्रं आ जघान) इन्द्रने इसके सिर पर वज्र मारा (वध्रिः वृष्णः प्रतिमानं बुभूषन्) वीर्यहीन मनुष्यके बलशाली वीरके साथ सामना करनेके समान (वृत्रः पुरुत्रा व्यस्तः अशयत्) वह वृत्र अनेक स्थानोंपर शस्त्रके आघात सहकर पृथ्वीपर गिर पडा ॥ ७ ॥

भावार्थ— वृत्र इन्द्रकी सेनाको चारों ओरसे घेरकर मारना चाहता था, पर इस कपटको जानकर इन्द्रने वृत्रको ही मार डाला। इन्द्रने वृत्रके हाथ पैर काटकर उसका वध किया। इसी प्रकार उसने अहिको भी मारा। यहां अहि और वृत्रका अर्थ बर्फ है। मेघ नहीं। क्योंकि मेघ कभी पृथ्वी पर नहीं सोता। बर्फ तो पहाडपर भी गिरती है और भूमिपर भी। वहां सूर्य किरणोंसे यह बर्फ पिघलती है। यही इन्द्र अर्थात् सूर्यके द्वारा वृत्र या अहि अर्थात् बर्फका वध करना है ॥४–५॥

घमण्डी और अपनेको अजिंक्य समझनेवाले वृत्रने इन्द्रको लडनेके लिए आह्वान किया। उस शत्रुने अपनेको इन्द्रसे अधिक बलवान् समझकर यह आह्वान किया था। पर इन्द्रने जब उसपर आघात किए तब वह शत्रु आघातोंको सह न सका और वह पृथ्वीपर गिर कर मर गया। इन्द्रका शत्रु वृत्र नदियोंको बर्फके रूपमें जमा कर उनके प्रवाहको रोक देता है। पर जब सूर्य अपनी किरणोंसे उस बर्फको पिघला देता है, तब नदियां फिर बह निकलती हैं ॥ ६ ॥

हाथ पांव टूट जानेपर भी सेनासहित वृत्र युद्ध कर ही रहा था। पर जब इन्द्रने वृत्रके सिरपर वज्रका प्रहार किया तब वह घायल होकर एवं अस्तव्यस्त होकर भूमिपर गिर पडा। वृत्रकी इन्द्रके साथ यह स्पर्धा उसी प्रकार थी जिस प्रकार किसी नपुंसककी वीर पुरुषके साथ ॥ ७ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३७६ नदं न भिन्नममुया शयानं मनो रुहाणा अति यन्त्यापः ।
याश्चिद् वृत्रो महिना पर्यतिष्ठत् तासामहिः पत्सुतःशीर्बभूव ॥ ८ ॥
३७७ नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार ।
उत्तरा सूरधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनुः ॥ ९ ॥
३७८ अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम् ।
वृत्रस्य निण्यं वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ १० ॥
३७९ दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः ।
अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार ॥ ११ ॥

अर्थ— [३७६] (अमुया शयानं) इस पृथ्वीके साथ सोनेवाले वृत्रको लांघकर (भिन्नं नदं न) बाढसे तटको छिन्न भिन्न करके बहनेवाली नदीके समान (मनः रुहाणाः आपः अति यन्ति) मनोहारी जलप्रवाह बहने लगे (वृत्रः महिना याः चित् पर्यतिष्ठत्) वृत्रने अपनी महिमासे जिन जलोंको बद्ध कर रखा था (तासां पत्सुतःशीः अहिः बभूव) उनके पांवोंके नीचे सोनेवाला ही अब वही अहि बन गया ॥ ८ ॥

[३७७] (वृत्रपुत्रा नीचावयाः अभवत्) वृत्रकी माताकी संरक्षण करनेकी शक्ति कम हो गयी (इन्द्रः अस्याः वधः अव जभार) वह माता पुत्रके ऊपर सो गयी, पर इन्द्रने उस माताके नीचेसे वृत्रपर प्रहार किया (सूः उतरा, पुत्रः अधरः आसीत्) उस समय माता ऊपर और पुत्र नीचे था (सहवत्सा धेनुः न) बछडेके साथ जैसी धेनु सोती है (दानुः शये) वैसीही वह दानु वृत्रमाता पुत्रके ऊपर सो गयी थी ॥ ९ ॥

[३७८] (अतिष्ठन्तीनां अनिवेशमानानां काष्ठानां मध्ये) स्थिर न रहनेवाले और विश्राम न करनेवाले जल-प्रवाहोंके बीचमें (वृत्रस्य निण्यं शरीरं निहितं) वृत्रका शरीर छिपा हुआ था (आपः वि चरन्ति) और उसपरसे जलप्रवाह चल रहे थे (इन्द्रशत्रुः) इन्द्रके शत्रु वृत्रने (दीर्घं तमः आशयत्) बडा ही अन्धकार फैला रखा था ॥ १० ॥

[३७९] (पणिना गावः इव) पणी नामक असुरने जैसी गौवें गुप्त रखी थीं, (दासपत्नीः अहिगोपाः) उस तरह दास वृत्रके द्वारा पालित और अहिद्वारा सुरक्षित (आपः निरुद्धाः अतिष्ठन्) जलप्रवाह रुके पडे थे अर्थात् स्थिर हो गये थे (अपां यत् बिलं अपिहितं आसीत्) जलका जो द्वार बन्द था (तत् वृत्रं जघन्वान्) वह वृत्रके वधके पश्चात् (अप ववार) खोल दिया गया अर्थात् जलप्रवाह बहने लगे ॥ ११ ॥

भावार्थ— वृत्र अपने पौरुषपर बडा अभिमान करता था और लोगोंके सिरपर नाचता था, पर अब वही उनके पांवोंके नीचे गिरा हुआ था। जब यह गिर गया, तब भूमिपर सोनेवाले इस वृत्रपरसे जलप्रवाह लांघकर जाने लगे ॥ ८ ॥

इन्द्रने जब वृत्रपर वज्र फेंका और वृत्र नीचे गिर गया, तब वृत्रकी माता वृत्रको बचानेके लिए उसके ऊपर लेट गई। इस प्रकार अपने पुत्रकी सुरक्षाके लिए उसके ऊपर लेट जानेपर भी इन्द्रने नीचेसे वज्र फेंककर वृत्रको मार दिया ॥ ९ ॥

प्रवाहोंके बीचमें वृत्रका शरीर छिपा पडा था। उस परसे जलप्रवाह बहने लगे थे। इन्द्रके शत्रु इस वृत्रने चारों ओर घना अंधकार छा दिया था। इससे भी यह प्रतीत होता है कि वृत्रका अर्थ बर्फ ही है, बादल नहीं ॥ १० ॥

जलप्रवाह रुके हुए थे, जलोंका द्वार बंद था। अर्थात् जलप्रवाह बह नहीं पाते थे। तब इन्द्रने वृत्रका वध करके वे जलप्रवाह खोल दिए। नदियोंका सब जल बर्फ बन गया था, इसलिए प्रबाह भी बन्द हो गए, पर जब सूर्य किरणोंने बर्फको पिघलाया, तब प्रवाह फिर बहने शुरू हो गए ॥ ११ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३८० अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत् त्वा प्रत्यहन् देव एकः ।
अजयो गा अजयः शूर सोम—मवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून् ॥ १२ ॥

३८१ नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद् ध्रादुनिं च ।
इन्द्रश्च यद् युयुधाते अहिश्चो—तापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ १३ ॥

३८२ अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यत् ते जघ्नुषो भीरगच्छत् ।
नव च यन् नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि ॥ १४ ॥

३८३ इन्द्रो यातो ऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः ।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीना—मरान न नेमिः परि ता बभूव ॥ १५ ॥

अर्थ— [३८०] (सृके यत्) इन्द्रके वज्रपर (एकः देवः त्वा प्रत्यहन्) जब एक अद्वितीय युद्धकुशल वृत्रने, मानो तुमपरही प्रहार किया (तत् अश्व्यः वारः अभवः) तब घोडेकी पूँछकी तरह तुमने उसका निवारण किया (गाः अजयः) और गौओंको प्राप्त किया (हे शूर इन्द्र) हे शूरवीर इन्द्र ! (सोमं अजयः) सोमको तुमने प्राप्त किया (सप्त सिन्धून् सर्तवे अव असृजः) और सात सिन्धुओंके प्रवाहोंको गतिमान् करके खुला छोड दिया ॥ १२ ॥

[३८१] (अस्मै विद्युत् न सिषेध) जब इन्द्र युद्ध करने लगा तब इस इन्द्रका बिजली प्रतिबंध न कर सकी (तन्यतुः, यां मिहं अकिरत् न) मेघगर्जना और जो हिमवृष्टि हुई वह भी उसका प्रतिबंध न कर सकी (ध्रादुनिं च) गिरनेवाली विद्युत् भी इस इन्द्रको न रोक सकी (इन्द्रः च अहिः च यत् युयुधाते) इन्द्र और अहि परस्पर युद्ध करने लगे (उत मघवा) उस समय धनवान् इन्द्रने (अपरीभ्यः वि जिग्ये) अन्यान्य शत्रुप्रेरित कपट प्रयोगोंको भी जीत लिया ॥ १३ ॥

[३८२] (इन्द्रः) हे इन्द्र ! (जघ्नुषः ते हृदि) वृत्रका वध करते समय तुम्हारे हृदयमें (यत् भीः अगच्छत्) यदि भय उत्पन्न हो जाता (अहेः यातारं कं अपश्यः) तब तुमने अहिका वध करनेके लिये किस दूसरे वीरको देखा होता अर्थात् तुम्हें छोडकर दूसरा कोई वीर मिलना संभव ही नहीं था । (यत् नव च नवतिं च स्रवन्तीः रजांसि) तुमने तो नौ और नब्बे जल-प्रवाहोंको (भीतः श्येनः न) अन्तरिक्षमें भयभीत श्येनकी तरह (अतरः) पार कर दिया ॥ १४ ॥

[३८३] (वज्रबाहुः इन्द्रः) वज्रबाहु इन्द्र (यातः अवसितस्य) जङ्गम और स्थावरों (शमस्य शृङ्गिणः च) शान्त और क्रूरों सींगवालोंका (राजा) राजा है (सः इत् उ चर्षणीनां राजा क्षयति) वही मनुष्योंका भी राजा है (अरान् नेमिः न) अरोंको जिस तरह चक्रकी नेमि धारण करती है (ताः परि बभूव) उस तरह वे सब उसके चारों ओर रहते हैं अर्थात् वही सबका धारण करता है ॥ १५ ॥

भावार्थ— इन्द्रने वृत्रका वध किया, सोम आदि वनस्पतियां प्राप्त कीं, गायें प्राप्त कीं और सातों सिन्धुनदियोंका जल प्रवाहित किया । सातों नदियां भरपूर बहने लगीं । बर्फके पडनेपर बर्फसे सब वनस्पतियां ढक जाती हैं पर सूर्यके कारण बर्फके पिघलनेपर फिर वनस्पतियां प्रकट हो जाती हैं ॥ १२ ॥

बिजलियां, मेघगर्जन, बडी वृष्टियां, बर्फकी वर्षा, बिजलियोंका गिरना आदि आपत्तियां इन्द्रको न रोक सकीं । इन्द्रके शत्रुपर हमला करनेके समय ये आपत्तियां होती रहीं, पर इन्द्रका हमला रुका नहीं। शत्रुके परास्त होनेतक इन्द्रने विघ्नोंकी परवाह न करते हुए हमला किया और अन्तमें विजय पायी ॥ १३ ॥

जब इस हमलेको करते समय इन्द्रके भी हृदयमें यदि भय उत्पन्न होने लगे तो फिर उसका सहायक कौन होगा ? अर्थात् कोई नहीं । जब इन्द्र जैसा बलशाली भी युद्ध करनेसे डरने लगे, तो फिर वृत्रसे युद्ध करनेमें कोई समर्थ नहीं होगा ॥ १४ ॥

यह इन्द्र सभी प्राणियोंका राजा है । यह शान्त भी है पर भी जब क्रोध आता है, तो भयंकर भी बहुत हो जाता है । इसीलिए सब प्राणी इससे डरते हैं । सभी प्रजायें इसके चारों ओर उसी प्रकार रहती हैं, जिस प्रकार चक्रके चारों ओर अरे । उसी प्रभुके आधार पर सारा विश्व है ॥ १५ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(३३)

(ऋषिः- हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता- इन्द्रः । छन्दः- त्रिष्टुप् ।)

३८४ एतायामोप गव्यन्त इन्द्रमस्माकं सु प्रमतिं वावृधाति ।
अनामृणः कुविदादस्य रायो गवां केतं परमावर्जते नः ॥ १ ॥

३८५ उपेदहं धनदामप्रतीतं जुष्टां न श्येनो वसतिं पतामि ।
इन्द्रं नमस्यन्नुपमेभिरर्कैर्यः स्तोतृभ्यो हव्यो अस्ति यामन् ॥ २ ॥

३८६ नि सर्वसेन इषुधीँरसक्त समर्यो गा अजति यस्य वष्टि ।
चोष्कूयमाण इन्द्र भूरि वामं मा पणिर्भूरस्मदधि प्रवृद्ध ॥ ३ ॥

३८७ वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र ।
धनोराधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः ॥ ४ ॥

---

[३३]

अर्थ— [३८४] (आ इत) आओ ! (गव्यन्तः) गायें प्राप्त करनेकी इच्छासे (इन्द्रं उप अयाम) हम इन्द्रके पास जावें (अनामृणः) जिसका कभी पराजय नहीं होता ऐसा यह इन्द्र (अस्माकं प्रमतिं सु वावृधाति) हमारी बुद्धि उत्तम रीतिसे बढायेगा (आत् अस्य) निःसंदेह इसकी भक्ति (रायः गवां परं केतं नः कुवित् आवर्जते) धनों और गायोंकी प्राप्तिका श्रेष्ठ ज्ञान हमें प्रदान करेगी ॥ १ ॥

[३८५] (जुष्टां वसतिं श्येनः न) जैसा श्येन पक्षी अपने रहनेके घोंसलेके पास दौडता है, (धनदां अप्रतीतं इन्द्रं) वैसे उस धनदाता और अपराजित इन्द्रके पास (अहं उपमेभिः अर्कैः नमस्यन्) मैं उपासनाके योग्य स्तोत्रोंसे गमन करता हुआ (उप इत् पतामि) जा पहुंचता हूँ, (यः स्तोतृभ्यः यामन् हव्यः अस्तिः) यह इन्द्र भक्तोंके लिये युद्धके समय सहायार्थ बुलाने योग्य है ॥ २ ॥

[३८६] (सर्वसेनः इषुधीन् नि असक्त) सब सेनाओंका सेनापति इन्द्र तर्कसोंको अपने पीठपर धारण करता है (अर्यः यस्य वृष्टि गाः सं अजति) वह स्वामी इन्द्र जिसको देना चाहता है उसके पास गायें भेजता है (हे प्रवृद्ध इन्द्र) हे श्रेष्ठ इन्द्र ! (भूरि वामं चोष्कूयमाणः) हमें बहुत श्रेष्ठ धन देनेकी इच्छा करते हुए (अस्मत् अधि पणिः मा भूः) हमारे साथ बनिया जैसा व्यवहार न करना ॥ ३ ॥

[३८७] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (उप शाकेभिः) शक्तिशाली वीरोंके साथ हमला करते हुए भी (एकः चरन्) अन्तमें तुम अकेलेने ही चढाई करके (धनिनं दस्युं) धनी दस्यु वृत्रका अपने (घनेन वधीः हि) प्रचण्ड वज्रसे वध किया । (धनोः अधि विषुणक् ते वि आयन्) तब तुम्हारे धनुष्यके ही ऊपर विशेष नाश होनेके लिये ही मानो, वे सब चढाई करने लगे (अयज्वानः सनकाः) अन्तमें वे यज्ञ न करनेवाले दानव (प्र-इतिं ईयुः) मृत्युको ही प्राप्त हुए ॥ ४ ॥

भावार्थ— इन्द्र सब भक्तोंके द्वारा बुलाने योग्य है। उसके बलको कोई रोक नहीं सकता। ऐसे इन्द्रको जो नमस्कार करता है, उस पर यह इन्द्र बहुत कृपा करता है और उसे हर तरहसे समृद्धि युक्त करता है ॥ १-२ ॥

सब सेना और सेनापतिको सभी तरहके अस्त्रास्त्रोंसे सज्जित रहना चाहिए। इस प्रकार अपनी शूरवीरतासे जो इन्द्र-को प्रसन्न करता है, वह अनेक गायोंसे समृद्ध होता है ॥ ३ ॥

धनुष आदि अस्त्रोंका संग्रह करके शत्रु सैनिक इन्द्रका नाश करनेके लिए आए, पर वे स्वयं विनष्ट हो गए। शत्रु-सैनिक असावधानीसे लाभ उठाना चाहते हैं, उस समय स्वयं सावधान रहकर उनका नाश करना चाहिए ॥ ४ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३८८ परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रा—ऽयज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः ।
प्र यद् दिवो हरिवः स्थातरुग्र निरव्रताँ अधमो रोदस्योः ॥ ५ ॥

३८९ अयुयुत्सन्ननवद्यस्य सेना—मयातयन्त क्षितयो नवग्वाः ।
वृषायुधो न वध्रयो निरष्टाः प्रवद्भिरिन्द्राच्चितयन्त आयन् ॥ ६ ॥

३९० त्वमेतान् रुदतो जक्षतश्चा—योधयो रजस इन्द्र पारे ।
अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा प्र सुन्वतः स्तुवतः शंसमावः ॥ ७ ॥

३९१ चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः ।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण ॥ ८ ॥

अर्थ— [३८८] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (अयज्वानः ते) स्वयं यज्ञ न करनेवाले वे शत्रु (यज्वभिः स्पर्धमानः) याजकोंके साथ स्पर्धा करनेके कारण (शीर्षा परा चित् ववृजुः) अपना सिर घुमा कर दूर भगाये गये (हे हरिवः स्थातः उग्र) हे घोडोंको जोतनेवाले, युद्धमें स्थिर उग्र वीर इन्द्र ! (यत् दिवः रोदस्योः अव्रतान् निः प्र अधमः) तुमने द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वीसे धर्मव्रत–हीन दुष्टोंको भगा दिया है ॥ ५ ॥

[३८९] (अनवद्यस्य सेनां अयुयुत्सन्) निर्दोष इन्द्रकी सेनाके साथ युद्ध करनेकी इच्छा उन शत्रुओंने की, (नवग्वाः क्षितयः अयातयन्त) तब नवीन गतिसे मानवोंने– उन सैनिकोंने उस शत्रुपर चढाई की (वृषायुधः वध्रयः न) बलिष्ठ शूर पुरुषोंके साथ युद्ध करनेसे जो गति नपुंसककी होती है (निरष्टाः चितयन्तः) वैसी ही दशा पराजित होकर उनकी हो गयी (इन्द्रात् प्रवद्भिः आयन्) और वे अपनी निर्बलता मानकर इन्द्रसे दूर भाग गये ॥ ६ ॥

[३९०] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वं रुदतः जक्षतः च एतान्) तुमने रोनेवाले या खानेवाले इन शत्रुओंको (रजसः पारे अयोधयः) रजोलोकके परे युद्ध करके भगा दिया । (दस्युं दिवः आ उच्चा अव अदहः) इस दस्यु (वृत्र) को द्युलोकसे खींचकर नीचे लाकर अच्छी तरह जला दिया (सुन्वतः स्तुवतः शंसं प्र आवः) और सोम–याजकों तथा स्तोताओंके स्तुतियोंकी उत्तम रक्षा की ॥ ७ ॥

[३९१] (हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः) सुवर्णों और रत्नोंसे अपने आपको शोभायमान करके (पृथिव्या परिणहं चक्राणासः) पृथ्वीके ऊपर अपना प्रभाव शत्रुओंने जमाया था (हिन्वानासः) वे बढते ही जाते थे (ते इन्द्रं न तितिरुः) पर वे इन्द्रके साथ युद्धमें न ठहर सके (स्पशः) अन्तमें शत्रुके अनुचरोंको (सूर्येण परि अदधात्) सूर्यके द्वारा पराभूत होना पडा ॥ ८ ॥

भावार्थ— शत्रुके साथ युद्ध करनेकी ऐसी तैय्यारी होनी चाहिए, कि हमला होने पर सब शत्रु सिर नीचा करके भाग जाएं । युद्धमें स्थिर रहनेवाला उग्रवीर ही अनियमसे चलनेवाले दुष्ट शत्रुओंका विनाश कर सकता है ॥ ५ ॥

निर्दोष और बलवान् वीरके साथ युद्ध करनेवाले शत्रुओंपर युद्धके नवीन साधनोंसे युक्त होकर ही हमला करना चाहिए । यहां नवग्वाका अर्थ नवीन गति अर्थात् युद्ध विद्यामें चतुरता है । अपने सैनिक बडे प्रखर हों और शत्रुओंके सैनिक उनके सामने शक्तिहीन नपुंसकके समान हों ॥ ६ ॥

यह इन्द्र इतना वीर है कि यह लडकर शत्रुओंको अन्तरिक्षके उस पारतक खदेड देता है । उनको जला देता है और इस प्रकार अपने भक्तोंकी रक्षा करता है ॥ ७ ॥

शत्रुके गुप्तचर बडे खतरनाक होते हैं, ये सब गुप्त ज्ञान शत्रुओंको पहुंचाते रहते हैं, इसलिए इन्हें चारों ओरसे घेर कर पकडना चाहिए । इसके साथ ही सैनिकोंकी शक्ति इतनी हो कि सुवर्णों और रत्नोंके आभूषण धारण करते हुए अर्थात् ऐश्वर्यसम्पन्न होते हुए, तथा बडे वेगसे हमला करनेपर भी हमारे वीरोंको दबा न सकें ॥ ८ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३९२ परि यदिन्द्र रोदसी उभे अबुभोजीर्महिना विश्वतः सीम् ।
अमन्यमानाँ अभि मन्यमानै र्निर्ब्रह्मभिरधमो दस्युमिन्द्र ॥ ९ ॥

३९३ न ये दिवः पृथिव्या अन्तमापु र्न मायाभिर्धनदां पर्यभूवन् ।
युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत् ॥ १० ॥

३९४ अनु स्वधामक्षरन्नापो अस्या ऽवर्धत मध्य आ नाव्यानाम् ।
सधीचीनेन मनसा तमिन्द्र ओजिष्ठेन हन्मनाहन्नभि द्यून् ॥ ११ ॥

३९५ न्यविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः ।
यावत्तरो मघवन् यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम् ॥ १२ ॥

अर्थ—[३९२] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत् उभे रोदसी) जब दोनों द्यु और भू लोकोंका (महिना) अपनी महिमासे (विश्वतः सीं परि अबुभोजीः) चारों ओरसे सब प्रकार तुमने उपभोग किया, (इन्द्र) तब हे इन्द्र! (अमन्यमानान्) न माननेवालोंको अर्थात् नास्तिकोंको भी (अभि मन्यमानैः ब्रह्मभिः) माननेवालोंके आस्तिकोंके द्वारा ज्ञानपूर्वक की गयी अनेक योजनाओंसे (दस्युं निः अधमः) शत्रुको परास्त किया ॥ ९ ॥

[३९३] (ये दिवः पृथिव्याः अन्तं न आपुः) जो द्यु लोकसे पृथ्वीतकके अवकाशका अन्तिम परिमाण न जान सके (धनदां मायाभिः न पर्यभूवन्) जो धनदाता इन्द्रका कपट युक्तियोंसे भी पराभव न कर सके (वृषभः इन्द्रः वज्रं युजं चक्रे) तब बलवान् इन्द्रने वज्र ठीक तरह पकड लिया (ज्योतिषा तमसः गाः निः अदुक्षत्) और प्रकाश द्वारा अन्धकारमेंसे गौओंको निकाल कर प्राप्त करके, उसने उनका दोहन किया ॥ १० ॥

[३९४] (आपः अस्य स्वधां अनु अक्षरन्) जल-प्रवाह इसके अन्नके अनुसार खेतमेंसे चलने लगे (नाव्यानां मध्ये आ अवर्धत) परंतु वृत्र नौकाओंद्वारा प्रवेश करने योग्य नदियोंके बीच बढ रहा था (इन्द्रः सधीचीनेन मनसा) इन्द्रने धैर्ययुक्त मनसे (तं ओजिष्ठेन हन्मना) उस शत्रुको बलवान् घातक वज्रसे (अभि द्यून् अहन्) कुछ एक दिनोंकी अवधिमें मार दिया ॥ ११ ॥

[३९५] (इलीबिशस्य) भूमिपर सोनेवाले वृत्रके (दृळ्हा) सुदृढ सैन्यों वा किलोंका (इन्द्रः नि अविध्यत्) इन्द्रने वेध किया (शृङ्गिणं शुष्णं वि अभिनत्) और सींगवाले शोषक वृत्रको छिन्नभिन्न किया (मघवन्) हे धनवान् इन्द्र! (यावत् तरः) तुम्हारा जितना वेग (यावत् ओजः) और जितना बल था (पृतन्युं शत्रुं वज्रेण अवधीः) उतनेसे तुमने सेनाको साथ रखकर लडनेवाले शत्रुका वज्रसे वध किया ॥ १२ ॥

भावार्थ—अपना कहना न मानकर शत्रुओंका कहना माननेवाले मित्रोंसे दूर ही रहना चाहिए। पहले की गई संधिको न मानकर जो बिना कारण आक्रमण करते हैं, वे शत्रु हैं। उनके साथ लडनेके लिए मित्र सैनिकोंको नियुक्त करना चाहिए ॥ ९ ॥

जो शत्रु द्यु और पृथ्वीतक भी नहीं पहुंच पाते, वे भला किस तरह अपने कपटोंसे इन्द्रको घेर सकते हैं। अपनी शक्ति इतनी अधिक हो कि शत्रु कपटके प्रयोगोंसे भी हमारा विनाश न कर सकें ॥ १० ॥

जलप्रवाह अन्नको बढानेके लिए अच्छी तरह चलते रहें। देशमें अन्नकी स्थिति उत्तम हो। और देशके बाहर देशके सैनिक धैर्ययुक्त मनसे, शांत चित्तसे और उत्तम शस्त्रास्त्रोंसे शत्रुओंसे मुकाबला करते रहें ॥ ११ ॥

जबर्दस्ती हमारे प्रदेशों पर कब्जा किए हुए शत्रुओंको और उनके सुदृढ किलोंको तोड देना चाहिए। तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुको छिन्न भिन्न करना चाहिए। जहांतक वेग हो और हमारी शक्ति काम कर सके, वहांतक शत्रुओंका सफाया कर देना चाहिए ॥ १२ ॥

*

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३९६ अभि सिध्मो अजिगादस्य शत्रून् वि तिग्मेन वृषभेणा पुरोऽभेत् ।
सं वज्रेणासृजद् वृत्रमिन्द्रः प्र स्वां मतिमतिरच्छाशदानः ॥ १३ ॥

३९७ आवः कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन् प्रावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम् ।
शफच्युतो रेणुर्नक्षत द्यामुच्छ्वैत्रेयो नृषाह्याय तस्थौ ॥ १४ ॥

३९८ आवः शमं वृषभं तुग्र्यासु क्षेत्रजेषे मघवञ्छ्वित्र्यं गाम् ।
ज्योक् चिदत्र तस्थिवांसो अक्रञ्छत्रूयतामधरा वेदनाकः ॥ १५ ॥

(३४)

(ऋषिः- हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता- अश्विनौ । छन्दः- जगती; ९, १२ त्रिष्टुप् ।)

३९९ त्रिश्चिन् नो अद्या भवतं नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना ।
युवोर्हि यन्त्रं हिम्येव वाससोऽभ्यायंसेन्या भवतं मनीषिभिः ॥ १ ॥

अर्थ— [३९६] (अस्य सिध्मः शत्रून् अभि अजिगात्) इस इन्द्रका वज्र शत्रुओंके ऊपर आक्रमण करने लगा (तिग्मेन वृषभेण वज्रेण) तीक्ष्ण और बलशाली वज्रसे (पुरः वि अभेत्) उस इन्द्रने शत्रुके नगरोंको तोड डाला (इन्द्रः वज्रेण सं असृजत्) इन्द्रने वज्रसे शत्रुपर सम्यक् प्रहार किया (शासदानः स्वां मतिं प्र अतिरत्) तब शत्रुनाशक इन्द्रने अपनी उत्तम विशाल बुद्धि प्रकट की ॥ १३ ॥

[३९७] (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यस्मिन् चाकन् कुत्सं आवः) जिसपर तुमने अपनी कृपा की उस कुत्सकी तुमने सुरक्षा की (युध्यन्तं वृषभं दशद्युं प्र आवः) युद्ध करते हुए बलवान् दशद्युकी भी तुमने रक्षा की (शफच्युतः रेणुः द्यां नक्षत) उस समय तुम्हारे घोडोंके खुरोंसे उडी धूली द्युलोकतक फैला गयी थी। (श्वैत्रेयः नृषाह्याय उत् तस्थौ) श्वैत्रेय भी सब मानवोंमें अधिक समर्थ होनेके लिये तुम्हारी कृपासे ऊपर उठ गया ॥ १४ ॥

[३९८] (मघवन्) हे धनवान् इन्द्र ! (क्षेत्रजेषे) क्षेत्र-प्राप्तिके युद्धमें (शमं वृषभं तुग्र्यासु गां श्वित्र्यं आवः) शान्त बलवान् परंतु जलप्रवाहोंमें डूबनेवाले श्वित्र्यकी तुमने रक्षा की (अत्र ज्योक् चित् तस्थिवांसः अक्रन्) यहां बहुत समयतक ठहरे हुए हमारे शत्रु हमसे युद्ध कर रहे थे (शत्रूयतां अधरा वेदना अकः) उन शत्रुओंको नीचे गिराकर तुमने ही दुःख दिया ॥ १५ ॥

(३४)

[३९९] (नवेदसा अश्विना) हे ज्ञानी अश्विदेवो ! (अद्य) आज तुम दोनों (त्रिः चित् नः भवतं) तीनों बार हमारे ही होकर रहो । (वां यामः) तुम दोनोंका रथ (उत रातिः विभुः) और दान बडा होता है; (वाससः हिम्या इव) जैसे कपडेका सर्दीसे सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है वैसे ही (युवो यन्त्रं हि) तुम दोनोंका नियंत्रण हमसे घनिष्ठ होता रहे, (मनीषिभिः अभ्यायंसेन्या भवतं) मननशील लोगोंको तुम दोनों सहज हीसे प्राप्त होते रहो ॥ १ ॥

भावार्थ— शत्रुओंके नाशकी इच्छा करनेवाला वीर अपनी बुद्धिको शत्रुसे अधिक उत्तम बनावे, ताकि शत्रु हमारी बुद्धिकी थाह न पा सके और इस प्रकार उत्तम बुद्धिसे शत्रुओंका नाश करना चाहिए ॥ १३ ॥

अपने देशमें (कुत्स) बुराइयोंको नष्ट करनेवालों और (दशद्यु) दान देनेवालोंकी रक्षा करनी चाहिए। और सेना तथा घोडे इतने वेगवान् हों कि उनके चलते समय उनके खुरोंसे उडाई गई धूलसे सारी दिशायें भर जाएं ॥ १४ ॥

शत्रुको नष्ट करनेके लिए प्रथम उसके देशमें अशिक्षाका प्रसार करना चाहिए और अपने राष्ट्रमें शिक्षाका प्रसार करना चाहिए । इस प्रकार जब शत्रु राष्ट्रके निवासी अशिक्षित रहेंगे और अपने देशवासी शिक्षित होंगे, तो शत्रु अवश्य विनष्ट हो जाएगा ॥ १५ ॥

अश्विदेव ज्ञानी हैं । वे हमारे यज्ञमें आज तीनों सवनोंमें आजायँ । उनका रथ भी बडा है और उनके पास दान देने योग्य धन भी उस रथमें बहुत रखा रहता है । सर्दीसे कपडेका सम्बन्ध जैसे अटूट रहता है वैसे ही अश्विदेवोंकी निगरानीका सम्बन्ध हमसे रहे । अश्विदेवोंकी सहायता मननशील लोगोंको सहज हीसे प्राप्त होती रहे ॥ १ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४०० त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद् विदुः ।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥ २ ॥

४०१ समाने अहन् त्रिरवद्यगोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुना मिमिक्षतम् ।
त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्च पिन्वतम् ॥ ३ ॥

४०२ त्रिर्वर्तिर्यातं त्रिरनुव्रते जने त्रिः सुप्राव्ये त्रेधेव शिक्षतम् ।
त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवं त्रिः पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम् ॥ ४ ॥

४०३ त्रिर्नो रयिं वहतमश्विना युवं त्रिर्देवताता त्रिरुतावतं धियः ।
त्रिः सौभगत्वं त्रिरुत श्रवांसि नस् त्रिष्ठं वां सूरे दुहिता रुहद् रथम् ॥ ५ ॥

अर्थ— [४००] इनके (मधु-वाहने रथे) मधुको ढोनेवाले रथमें (त्रयः पवयः) तीन पहिये लगे हुए हैं, (विश्वे इत्) सभी आप दोनोंकी (सोमस्य वेनां अनु विदुः) सोमकी चाहको जानते हैं। हे (अश्विना) अश्विदेवो! (आरभे त्रयः स्कम्भासः) तुम दोनोंके रथपर आलम्बनके लिए तीन खंभे (स्कभितासः) स्थिर किये हुए हैं, (नक्तं त्रिः याथः) रात्रीके समय तुम दोनों तीनबार यात्रा करते हो, (दिवा उ त्रिः) और दिनके समय भी तीन बार घूमते हो ॥ २ ॥

[४०१] हे (अवद्य-गोहना अश्विना) अश्विदेवो! तुम दोनों दोषोंको गुप्त रखनेवाले हो। (समाने अहन्) एक ही दिन (अद्य) आज (यज्ञं त्रिः) हमारे यज्ञको तीन बार (मधुना मिमिक्षतं) मधुसे पूर्ण करो; (युवं अस्मभ्यं) तुम दोनों हमें (उषसः दोषाः च) प्रातःकाल तथा सायंकाल (वाजवतीः इषः) बलवर्धक अन्न (त्रिः पिन्वतं) तीनबार भरपूर दे दो ॥ ३ ॥

[४०२] हे अश्विनौ! (वर्तिः त्रिः यातं) हमारे घरपर तुम दोनों तीन बार आओ, (अनुव्रते जने त्रिः) अनुयायी लोगोंके मध्य तुम दोनों तीन बार जाओ, (सुप्राव्ये) उत्तम रक्षा करने योग्य मनुष्योंको (त्रिः) तीन बार (त्रेधा इव शिक्षतं) तीन प्रकारके ज्ञानको पढाओ; (युवं) तुम दोनों (नान्द्यं त्रिः वहतं) अभिनन्दनीय पदार्थोंको तीन बार ढोकर इधर पहुँचा दो और (अस्मे) हमें (पृक्षः) अन्नोंको (अक्षरा इव त्रिः पिन्वतं) स्थायी वस्तुओंके समान तीनबार पर्याप्त मात्रामें देकर पुष्ट करो ॥ ४ ॥

[४०३] हे (अश्विनौ) अश्विनौ! (युवं नः) तुम दोनों हमारे लिए (त्रिः रयिं वहतं) तीनबार धन पहुँचा दो, (देवताता त्रिः) यज्ञमें तीनबार आओ (उत) और वहांके (धियाः त्रिः अवतं) कर्मोंको तीनबार सुरक्षित रखो, (सौभगत्वं त्रिः) अच्छा ऐश्वर्य तीनबार दो, (उत श्रवांसि त्रिः) और अन्न समूह तीनबार दो, (वां त्रिः स्थं रथं) तुम दोनोंके तीन पहियोंके रथपर (सुरेः दुहिता) सूर्यकी कन्या (रुहत्) चढ गयी है ॥ ५ ॥

भावार्थ— अश्विदेवोंके रथके तीन पहिये हैं। उसमें बैठ कर वे सोमके स्थानपर जाते हैं क्योंकि वे सोमको चाहनेवाले हैं। इनके रथमें पकडनेके लिये तीन खम्भे हैं, ये खम्भे स्थिर हैं। रात्रीमें तथा दिनमें तीन तीन बार ये अश्विदेव इस रथमें बैठकर भ्रमण करते हैं। इनके रथमें पर्याप्त मधु रहता है ॥ २ ॥

अश्विदेव हमारे कर्ममें दोष अर्थात् त्रुटि रही तो उसको क्षमा करते हैं। दिनमें तीन तीन बार यज्ञमें आते और मधु देते हैं, तथा सवेरे और शामको बलवर्धक अन्न दिनमें तीनबार देते हैं ॥ ३ ॥

अश्विदेव अनुयायियोंके घरपर तीनबार दिनमें जायँ, अपने घर तीनबार आ जायँ। जिसकी सुरक्षा करनी हो उसको तीनबार तीन प्रकारका ज्ञान देकर अपनी सुरक्षा करनेकी रीति बतावें। आनन्द देनेवाले पदार्थ तीनबार दिनमें ले आयें और अन्न भी तीनबार देकर हमें पुष्ट करें ॥ ४ ॥

अश्विदेव हमारे लिए तीनबार धन दें, यज्ञमें आकर तीनबार कर्मोंकी देखभाल करें, उत्तम भाग्य तीनबार दें, और तीनबार अन्न दें। इनके तीन पहियोंवाले रथपर सूर्यकी दुहिता चढ बैठी है ॥ ५ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४०४ त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः ।
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती ॥ ६ ॥

४०५ त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम् ।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ७ ॥

४०६ त्रिरश्विना सिन्धुभिः सप्तमातृभिस् त्रय आहावास्त्रेधा हविष्कृतम् ।
तिस्रः पृथिवीरुपरि प्रवा दिवो नाकं रक्षेथे द्युभिरक्तुभिर्हितम् ॥ ८ ॥

४०७ क्व१ त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व१ त्रयो वन्धुरो ये सनीळाः ।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः ॥ ९ ॥

अर्थ— [४०४] हे (शुभः पती अश्विना) शुभ कर्मोंके पालनकर्ता अश्विदेवो ! (नः) हमें (दिव्यानि भेषजा त्रिः) द्युलोककी दवाइयाँ तीनबार (पार्थिवानि त्रिः) भूमिपरकी औषधियाँ तीनबार और (अद्भ्यः त्रिः दत्तं) जलोंसे तीनबार औषधोंका दान करो । (ममकाय सूनवे शंयोः) मेरे पुत्रको सुखकी प्राप्ति होनेके लिए (ओमानं त्रिधातु शर्म वहतं) संरक्षण तथा तीन धातुओंकी सुस्थितिसे मिलनेवाला सुख पहुँचा दो ॥ ६ ॥

[४०५] (यजता अश्विना) हे पूजनीय अश्विदेवो ! (नः दिवे दिवे) हमारे प्रतिदिन करनेके (त्रिः) तीनों यज्ञोंमें (पृथिवीं) पृथ्वी स्थानीय वेदीपर (त्रिः परि अशायतं) तीनबार आकर बैठो, (रथ्या नासत्या) हे रथारूढ और सत्यपालक देवो ! (परावतः) सुदूरवर्ती स्थानसे भी (वातः आत्मा इव) प्राण वायुरूपी आत्माके समान (स्वसराणि तिस्रः गच्छतं) हमारे घरोंमें तीनों बार आओ ॥ ७ ॥

[४०६] हे अश्विदेवो ! (सप्तमातृभिः सिन्धुभिः) माताओंके समान पवित्र सातों नदियोंके जलसे (त्रिः) तीनबार, (त्रयः आहावाः) ये तीन पात्र भर दिये हैं, (हविः त्रेधा कृतं) हविको भी तीन हिस्सोंमें बांट रखा है, (तिस्रः पृथिवीः उपरि प्रवा) इन तीनों लोगोंमें ऊपर जानेवाले तुम दोनों (दिवः हितं नाकं) द्युलोकमें प्रस्थापित सुखकी (द्युभिः अक्तुभिः) दिनों और रात्रियोंमें (रक्षेथे) रक्षा करते हो ॥ ८ ॥

[४०७] (नासत्या) हे सत्यका पालन करनेवाले देवो ! (त्रिवृतः रथस्य) तीन छोरवाले रथके (त्रि चक्रा क्व) तीन पहिये किधर हैं ? (ये सनीळाः त्रयः) जो एक ही स्थानमें रखे हुए तीनों (वंधुरः क्व) खंभे हैं वे कहाँ हैं ? (वाजिनः रासभस्य) बलवान् गर्दभका तुम्हारे (योगः कदा) रथमें जोतना कब होगा ? तुम दोनों (येन यज्ञं उपयाथः) जिस रथपर चढकर यज्ञमें आते हो ॥ ९ ॥

भावार्थ— अश्विदेव हमारे शुभ कर्मोंकी रक्षा करें । पर्वत, भूमि और जलसे चिकित्सा करें और बाल बच्चोंकी सुरक्षाके लिये वात-पित्त कफकी (विषमताको दूर करके) समताका सुख दें ॥ ६ ॥

पूजनीय अश्विदेव प्रतिदिनके यज्ञमें तीनबार आकर आसनोंपर बैठें । जब वे दूर देशमें हों तब भी वे रथपर चढ कर, जैसा प्राण शरीरमें घुसता है वैसे, वेगसे हमारे यज्ञस्थानमें शीघ्रतासे आ जाँय । अर्थात् जहां कहीं भी हों वहांसे वे अवश्य आ जायँ ॥ ७ ॥

अश्विदेवोंका सत्कार करनेके लिये सात नदियोंका जल भरकर रखा है जिससे ये तीन पात्र भरे पडे हैं । उनके लिये हवि भी तीन पात्रोंमें रखी हुई है । ये दोनों देव तीनों लोकोंमें भ्रमण करते हैं और स्वर्गमें रखे सुखकी दिन रात सुरक्षा करते रहते हैं ॥ ८ ॥

रथको पूर्णतया तैयार करके तथा रथकी सभी वस्तुओंकी भलीभाँति जाँच पडताल करके ही यात्रा करनी चाहिए ॥ ९ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४०८ आ नासत्या गच्छ[illegible] हवि—र्मध्वः पिबतं मधुपेभिरासभिः ।
युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथ—मृताय चित्रं घृतवन्तमिष्यति ॥ १० ॥

४०९ आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा ॥ ११ ॥

४१० आ नो अश्विना त्रिवृता रथेना—ऽर्वाञ्चं रयिं वहतं सुवीरम् ।
शृण्वन्ता वामवसे जोहवीमि वृधे च नो भवतं वाजसातौ ॥ १२ ॥

(३५)

(ऋषिः– हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः । देवता- १ (पादानां क्रमेण) अग्निः, मित्रावरुणौ, रात्रिः, सविता च । छन्दः– २–११ सविता । त्रिष्टुप्; १, ९ जगती ।)

४११ ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे ।
ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये ॥ १ ॥

अर्थ— [४०८] (नासत्या) हे असत्यसे दूर रहनेवाले देवो ! (हविः हूयते) यहां हविको अग्निमें डाला जाता है, अतः (आ गच्छतं) यहां आओ। (मधुपेभिः आसभिः) मधु पीनेवाले मुखोंसे (मध्वः पिबतं) मीठे सोम रसका पान करो। (युवः चित्रं घृतवन्तं रथं हि) तुम दोनोंके विचित्र एवं घीसे युक्त रथको तो (सविता उषसः पूर्वं) सूर्य उषःकालके पहले ही (ऋताय इष्यति) यज्ञके लिए प्रेरित करता है ॥ १० ॥

[४०९] (नासत्या अश्विना) हे सत्यके पालक अश्विदेवो ! (त्रिभिः एकादशैः देवैः) तीनबार ग्यारह अर्थात् तैंतीस देवोंके साथ (इह मधुपेयं आयातं) इधर मीठे सोमरसके पान करनेके लिए यज्ञमें आ जाओ। (आयुः प्र तारिष्टं) हमारे जीवनको सुदीर्घ करो। (रपांसि नि मृक्षतं) दोषोंको पूर्णतया दूर करके हमारी शुद्धता करो। (द्वेषः सेधतं) वैरभावको दूर करो। (सचा भुवा भवतं) हमारे साथ रहो ॥ ११ ॥

[४१०] हे अश्विदेवो ! (त्रिवृता रथेन) तीन छोरवाले रथसे (सुवीरं रयिं) अच्छे वीरोंसे युक्त धनको (नः अर्वाञ्चं आवहतं) हमारे समीप पहुंचा दो। (वां शृण्वन्ता) तुम दोनों सुननेवालोंको (अवसे जोहवीमि) मैं अपनी रक्षाके लिए बुलाता हूँ। (वाजसातौ च) और युद्धके मौकेपर (नः वृधे भवतं) हमारी वृद्धिके लिए तुम प्रयत्नशील बनो ॥ १२ ॥

[३५]

[४११] (स्वस्तये प्रथमं अग्निं ह्वयामि) कल्याणके लिये प्रथम अग्निकी मैं प्रार्थना करता हूं। (इह अवसे मित्रावरुणौ ह्वयामि) यहां सुरक्षितताके लिये मित्र और वरुणको मैं बुलाता हूं (जगतः निवेशनीं रात्रीं ह्वयामि) जगत्को विश्राम देनेवाली रात्रिकी मैं प्रार्थना करता हूं (ऊतये सवितारं देवं ह्वयामि) और अपनी सुरक्षाके लिये सविता देवका आवाहन मैं करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ— प्रातःकाल होते ही रथको सज्ज करके यज्ञ स्थानके पास जाना चाहिए। अश्विदेव उषःकालके पहिले ही यज्ञ स्थानपर जाते हैं। क्योंकि सूर्य ही उस समय सबको यज्ञ करनेके लिये प्रवृत्त करता है ॥ १० ॥

अश्विदेव सत्यका पालन करते हैं। तैंतीस देवोंके साथ वे हमारे यहां रसपान करनेके लिये आवें और हमें दीर्घायु करें। हमारे अन्दरके दोष दूर करें, द्वेषभाव दूर करें, और मित्र जैसे हमारे पास रहें ॥ ११ ॥

अश्विदेव अपने त्रिकोणाकृति रथपरसे वीरोंके साथ रहनेवाला धन हमारे पास ले आवें। वे हमारी प्रार्थना सुनते हैं, इसलिये हम उनको बुलाते हैं। युद्ध छिडजानेपर वे हमारी ही सहायता करें ॥ १२ ॥

अग्नि, मित्र, वरुण, रात्रि और सविता ये सभी देव कल्याण करनेवाले हैं। अग्नि ज्ञान और उष्णता द्वारा, मित्र बिजली द्वारा पानी बरसाकर, वरुण जल द्वारा और सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा सबकी सुरक्षा एवं सबका कल्याण करता है ॥ १ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४१२ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च हिरण्यशम्यः
हिरण्ययेन सविता रथेना ऽऽ देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ २ ॥

४१३ याति देवः प्रवता यात्युद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम् ।
आ देवो याति सविता परावतो ऽप विश्वा दुरिता बाधमानः ॥ ३ ॥

४१४ अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम् ।
आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः ॥ ४ ॥

४१५ वि जनाञ्छ्यावाः शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः ।
शश्वद् विशः सवितुर्दैव्यस्यो पस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः ॥ ५ ॥

अर्थ— [४१२] (कृष्णेन रजसा आ वर्तमानः) अन्धकारसे युक्त अन्तरिक्षलोकमेंसे परिभ्रमण करनेवाले (अमृतं मर्त्यं च निवेशयन्) अमर्त्य और मर्त्यका निवेश करनेवाले (सविता देवः भुवनानि पश्यन्) सविता देव सब भुवनोंको देखते हुए (हिरण्ययेन रथेन आ याति) सुवर्णके रथसे आते हैं ॥ २ ॥

[४१३] (देवः सविता प्रवता याति) सविता देव प्रथम ऊंचाईके मार्गसे ऊपर चढकर जाते हैं, (उद्वता याति) और पश्चात् अधोगामी मार्गसे नीचे उतरते हुए चलते हैं (यजतः शुभ्राभ्यां हरिभ्यां याति) पूजाके योग्य ये सूर्यदेव तेजस्वी घोडोंसे गमन करते हैं। (सविता देवः) ये सविता देव (विश्वा दुरिता अपबाधमानः) सब पापोंको रोकनेके लिये (परावतः आ याति) दूर देशसे आते हैं ॥ ३ ॥

[४१४] (अभिवृतं, कृशनैः विश्वरूपं) सतत गतिशील, सुवर्णादिके कारण, सुंदर नानारूपवाले (हिरण्यशम्यं बृहन्तं रथं) सुवर्णकी रस्सियोंसे किरणोंसे युक्त बडे रथपर (यजतः चित्रभानुः) पूजनीय चित्रविचित्र किरणोंवाले (कृष्णाः रजांसि तविषीं दधानः) और अन्धकारका नाश करनेवाले प्रकाशका धारण अपने बलसे करनेवाले (सविता आ अस्थात्) सविता देव आ गए हैं ॥ ४ ॥

[४१५] (श्यावाः शितिपादः) सूर्यके घोडे सफेद पैरोंवाले हैं (हिरण्यप्रउगं रथं वहन्तं) वे सुवर्णके युगवाले रथको ढोते हैं (जनान् वि अख्यत्) जो मानवोंके लिये प्रकाश देते हैं। (शश्वत् विश्वा भुवनानि विशः) सर्वदा सभी भुवन और सब प्रजाजन (दैव्यस्य सवितुः उपस्थे तस्थुः) दिव्य सविता देवके समीप उपस्थित होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— अमर और मर्त्य ऐसे दो पदार्थ इस विश्वमें हैं, इन दोनोंका निवास सर्वथा सूर्य देवकी किरणोंपर है। बरसातके दिनोंमें जब एक दो मासतक सूर्य नहीं निकलता, तब सारा स्वास्थ्य बिगड जाता है। इस प्रकार आरोग्य प्रदान करता हुआ सूर्य अपने तेजस्वी रथसे प्रतिदिन जाता है॥ २ ॥

सूर्य देव सब दुरितोंका नाश तथा प्रतिबंध करता है। जो रोगबीज बाहरसे शरीरके अन्दर या मनके अन्दर घुसता है, उसको दुरित कहते हैं। सूर्य किरणोंसे इन सबका नाश होता है। यह देव प्रथम ऊपर आकाशमें चढता है और फिर उतरता है। इसी प्रकार यह परिभ्रमण करता है ॥ ३ ॥

इस सविता देवका रथ हमेशा गतिशील और सोनेके समान तेजस्वी है। यह अनेक किरणोंसे चमकता रहता है। उस रथपर सवार होकर यह सविता देव अन्धकारका नाश करके सबके अन्दर बल स्थापित करता है। सब तरहके बल इसी सूर्यसे ही मिलते हैं ॥ ४ ॥

इस सूर्यकी किरणें अत्यधिक तेजस्वी होनेके कारण सफेद दीखती हैं। ये ही किरणें सूर्यको प्रकाशित करती हैं और सब प्रजाजन सूर्यका सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

ization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Regd. No. G. 71

ऋतं मर्त्यं चेर्त दस्रमद्यः

' संसारके पुस्तकालयमें ऋग्वेद प्र[illegible]यांति भुवनानि पश्यन [illegible] ज्ञान नहीं, जो ऋग्वेदमें न हो। दार्शनिक, भौतिक, अ[illegible] [illegible]र्क, [illegible]जक, सांसारिक आदि सभी विषयोंका समावेश ऋग्वेदमें है। अतः—

यदि आप जानना चाहते हैं

कि

(१) ऋग्वैदिक दार्शनिकता क्या है ?

(२) ऋग्वैदिक समाजशास्त्र क्या है ?

(३) ऋग्वैदिक भौतिकशास्त्र कैसा है ?

(४) ऋग्वैदिक अध्यात्मविद्या क्या है ?

(५) ऋग्वेदका सांराश क्या है ?

तो अवश्य ग्राहक बनिये—

म. म. पं. श्री. दा. सातवलेकर कृत

ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(चार भागोंमें)

प्रकाशन कार्य आरंभ हो गया है। मंत्र, अर्थ, भावार्थ तथा हर मण्डलके अन्तमें उस मंडल का सारांश एवं कठिनस्थलोंका स्पष्टीकरण सभी कुछ पठनीय होगा। साइज— डबल क्राऊन ८ पेजी, सुन्दर कागज, पृष्ठ संख्या २५०० से ज्यादा, मूल्य मात्र २०) रु. प्रत्येक भाग, पर—

(१) जो पेशगी धन भेज कर इस ग्रंथके ग्राहक होंगे, उन्हें केवल ६०) में चारों भाग मिल सकेंगे।

(२) जो ग्राहक चारों भाग एक साथ खरीदेंगे, उन्हें इस ग्रंथके कुल मूल्य ८०) रु. पर २०% कमीशन दिया जाएगा।

(३) जो इस ग्रंथके कम से कम ७ ग्राहक बनायेंगे उन्हें लेखकके हस्ताक्षरके साथ चारों भाग मुफ्त भेंटस्वरूप दिए जाएंगे।

विशेष विवरणके लिए लिखें—

व्यवस्थापक—

स्वाध्याय-मण्डल पारडी,

पोस्ट- 'स्वाध्याय-मण्डल (पारडी),' पारडी [जि. वलसाड]

मुद्रक और प्रकाशक- व. श्री. सातवलेकर, भारत-मुद्रणालय, पो. 'स्वाध्याय-मंडल (पारडी) ' पारडी [वलसाड]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu